



# ब्रह्मचर्य-सन्दर्श

[ श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा लिखित अमूल्यिका संहित ]

लेखक—

सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार  
प्रोफेसर तुलनात्मक-धर्म-विज्ञान, गुरुकुल विश्वविद्यालय,  
कांगड़ी ( विजनौर )

मिलने का पता—

‘अलंकार’ कार्यालय, गुरुकुल कांगड़ी  
ज़िला विजनौर, यू. पी.

संवत् १६८५]

{ मूल्य दो रुपया

प्रकाशक  
दी शर्मा ट्रॉडिंग कम्पनी  
लोहर चौल, वम्बई २.



मुद्रक—  
चौधरी हुलासराय  
गुरुकुल-यन्त्रालय  
गुरुकुलं काँगड़ी

आदित्य-ब्रह्मचारी  
 अ ह पि दु या न न्दु  
 के  
 चरणों में

गंगा-नट के तपोवनों ने दिया विध को जो सन्देश  
 जिस से जीत लिया देवों ने जरा-मरण का दुर्जय क्लेश ।  
 उसी महा-व्रत 'ब्रह्मचर्य' के मूर्त्तिमान मानव अवतार !  
 ऋषिवर ! मेरी तुच्छ भेट यह चरणों में करिये स्वीकार ॥  
 कलि के इस विकराल काल में कल्प-वृक्ष के सुन्दर फूल  
 देव-लोक से लाकर तुम ने वरसा दिये यहाँ सुख-मूल ।  
 उन में से ही कुछ ये चुन कर, लाया भक्ति-भरा उपहार  
 ऋषिवर ! अपनी वस्तु कीजिये अपने चरणों में स्वीकार ॥

—स. ब्र.



# विषय-सूची

---

विषय	पृष्ठ
१. भूमिका ( श्री सामी श्रद्धानन्द जी द्वारा लिखित )	१
२. लेखक का वक्तव्य	५
३. क्या यह विषय गोपनीय है ?	८
४. प्रेम की सिलती हुई कलियाँ !	१६
५. जनन-प्रक्रिया	४३
६. उत्पादक-शब्द	६३
७. किशोरावस्था, यौवन तथा एरुपत	८०
८. 'इन्द्रिय-नि ग्र हः'	८३
i. स्वाभाविक-जीवन	
ii. अस्वाभाविक-जीवन	
९. 'इन्द्रिय-नि ग्र हः' ( अस्वाभाविक-जीवन )	८८
[ क. आत्म-च्यभिचार ]	
१०. 'इन्द्रिय-नि ग्र हः' ( अस्वाभाविक-जीवन )	१५२
[ ल. पत्नी-च्यभिचार ]	
११. 'इन्द्रिय-नि ग्र हः' ( अस्वाभाविक-जीवन )	१६३
[ ग. वेश्या-च्यभिचार ]	
१२. 'इन्द्रिय-नि ग्र हः' ( अस्वाभाविक-जीवन )	१७१
[ घ. स्वप्न-दोष ]	

१३. 'ब्रह्म च वर्य'— ( वीर्य क्या है ? — उस की महत्ता ! )	२०१
१४. 'ब्रह्म च वर्य'— ( वीर्य-रक्षा ही जीवन है, वीर्य-नाश ही मृत्यु है ! )	२१८
१५. 'ब्रह्म च वर्य'— ( ब्रह्मचर्य के नियमों की वैज्ञानिक व्याख्या )	२२७
१६. उपसंहार	२४५
१७. सहायक-पुस्तक-सूची	२५२
१८. इस पुस्तक पर कुछ सम्मतियाँ	२५४

ब्रह्मचर्य-सन्देश



# प्रारम्भिक शब्द

[ स्वामी चहानन्द जी द्वारा लिखित ]

आजकल की सभ्य कहानेवाली पाश्चात्य जातियों के पूर्वज निस समय अन्धकार में हाथ से रास्ता टटोल रहे थे और अपने ऊंग को वज्र से ढोपना तक न जानते थे उस समय आर्यवर्त में 'ब्रह्मनर्य' विषयक ज्ञान अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुका था। मानवीय विकास के लिये ब्रह्मनर्य अत्यावश्यक समझा जाता था, विचार तथा क्रिया में विवाह को एक धार्मिक संस्कार समझा जाता था और सन्तानोत्पत्ति गृहस्थ के तीन ऋणों में से एक ऋण समझा गया था। वृहदारण्यकोपनिषद् में गर्भावान-विधि को अत्यन्त पवित्र यज्ञ कहा गया है, इस के अनुष्ठान के लिये अनेक नियमों की श्रृंखला बाँध दी गई है। मैत्रसमूलर जैसे उच्च-कोटि के विद्वान् ने उक्त स्त्यल का श्रांगलभापा में अनुवाद नहीं किया क्योंकि उस का विचार था कि वर्तमान सभ्य कहानेवाले गन्दे संसार के लिये वे विचार इतने उच्च हैं कि उन का महत्व उस की समझ में नहीं आ सकता।

ब्रह्मनर्य के महत्व को समझने के लिये युरूप तथा अमेरिका को पर्याप्त समय लगा है। योड़े समय से वहाँ के विज्ञान तथा चिकित्सा से परिचय रखनेवाले विद्वानों ने अनुभव

करना प्रारम्भ किया है कि ब्रह्मचर्य की नींव पर ही व्यक्ति तथा जाति के जीवन की भित्ति का निर्माण किया जा सकता है। पश्चिम में हरेक को विचारों की आजादी है। उसी का परिणाम है कि इस योड़े से अरसे में इस विषय में उन्होंने अपने वैज्ञानिक अनुभवों तथा अन्वेषणों के आधार पर एक नवीन विद्या की भी आधार शिला रख दी है, जिस का नाम 'युजेनिक्स' ( सन्तति शाख ) है। 'ब्रह्मचर्य' एक व्यापक शब्द है जिस में 'युजेनिक्स' भी शामिल है। वेदों के आदेश के अनुसार यह मानवीय जीवन का प्रथम सोपान है, और यही उन्नति के मार्ग पर मनुष्य समाज का पथ-प्रदर्शक है। इस युग में सब से प्रथम ऋषि दयानन्द ने अंगुली उठा कर वर्तमान सम्यता की जड़ में लगे हुए धुन की तरफ निर्देश करते हुए वाणी तथा आचरण द्वारा वतलाया था कि शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक ब्रह्मचर्य द्वारा ही मनुष्य-समाज की रक्षा हो सकती है। आज पाश्चात्य विद्वान् ऋषि दयानन्द के ब्रह्मचर्य विषयक एक-एक शब्द की दाद दे रहे हैं।

मेरे शिष्य प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने विद्यार्थी-समाज के लिये 'ब्रह्मचर्य-सन्देश' को लिख कर मातृभूमि की महान् सेवा की है। गुरुकुल विश्वविद्यालय, काँगड़ी, के आचार्य की हैसियत से मुझे पूरे १४ वर्ष तक सैकड़ों बालकों के जीवन के निरीक्षण तथा सञ्चालन का उत्तरदायित्व-पूर्ण अधिकार प्राप्त रहा है। मेरा अनुभव है कि प्रत्येक युवक की १३ से १८ वर्ष तक की अवस्था अत्यन्त नाजुक होती है, परन्तु यदि आचार्य

कुरुलता-पूर्वक इस समय के ख़तरों में से उसे निकाल ले जाय तो बालरु का जीवन ब्रिगड़ने के स्थान पर शारीरिक तथा मानसिक शक्ति का ख़ज़ाना बन जाय । 'ब्रह्मचर्य-सन्देश' जैसी पुस्तकों के प्रशार से बालकों का अत्यन्त उपकार हो सकता है परन्तु वास्तविक कार्य तभी होगा जब आचार्य की देख-रेख में रहते हुए ब्रह्मचारियों का जीवन गदा जायगा ।

ब्रह्मचर्य के सन्देश को सुनने और सुनाने के लिये दैवीय प्रेम तथा पवित्रता का वातावरण होना चाहिये । मैंने स्वयं इस विषय में विद्यार्थियों को अनेक उपदेश दिये हैं । जब तक मन को शुद्ध कर इन उपदेशों को न सुना जाय तब तक इन से लाभ के स्थान पर हानि होने की भी सम्भावना रहती है । इसलिये इस पुस्तक के पढ़नेवालों के प्रति मेरी सलाह है कि इस के पने पलटने से पहले मन में पवित्रता तथा नम्रता के भाव भर लें । विधि-विवायक देवमाता को अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर के, और यदि यह सम्भव न हो तो अपनी प्रेममयी जननी जिस की गोद में खेलतं-खेलतं कई वर्ष विता दिये उस का ध्यान कर के, पवित्र तथा दैवीय वातावरण में इस पुस्तक को हाथ लगाएँ ।

गुरुकुल छोड़ने के बाद, सन्यास में प्रविष्ट होते समय, मेरा विचार था कि ब्रह्मचर्य विषयक अपने अनुभवों को देश के विद्यार्थी-समाज तक पहुँचाऊँ । परन्तु 'मेरे मन कछु और है विवाना के मन और'— मैं अपने वास्तविक मार्ग से हट कर सामयिक घटनाओं की उलझन में पड़ गया । इस समय भारत के विद्यार्थी-

( ४ )

समाज की सब से बड़ी ज़रूरत यही है कि रहनुमा बन कर उस के वैद्यकिक जीवन को ठीक मार्ग पर चलाया जाय। मैं भारत के स्कूलों तथा कालेजों के अध्यापकों एवं आचार्यों से कहना चाहता हूँ कि वे अपने धर्म को पहचानें—स्वयं ब्रह्मचारी बनें ताकि अपने छात्रों को ब्रह्मचारी बना सकें। वेद भगवान् का कथन है:—‘आचार्योऽब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिष्टते’—ब्रह्मचर्य धारण कर के ही आचार्य छात्र को ब्रह्मचारी बना सकता है। मेरी यही हार्दिक प्रार्थना है कि ‘त्वमेव माता च पिता त्वमेव’ स्वरूप वाले भगवान् मातृभूमि के आचार्यों तथा शिष्यों को ज्योति-स्तम्भ होकर कर्तव्य-मार्ग प्रदर्शित करें।

जन्म—शताब्दी—कैम्प  
मथुरा  
२८ जनवरी, १६२५

श्रद्धानन्द सन्धासी

# लेखक का वक्तव्य

ऋषि दयानन्द की जन्म-शताब्दी को हुए तीन साल बीत गये। शताब्दी के उपलक्ष में वहुतों ने अपनी-अपनी भेट ऋषि के चरणों में धरीं। मैंने सोचा, मैं किस उद्घान से, कौन सा फूल, अपने देवता की आराधना में रखूँ? अभी दुविधा में ही पड़ा था कि आनार्य श्रद्धानन्द ने देवलोक के कुछ सुरभित पुष्पों को मेरी अंगली में डाल कर कहा:—“वेदा, ते, ‘ब्रह्मचर्य’ के इन फूलों को अपने देवता के चरणों में रख दे।” आनार्य के दिये हुए फूलों से मैंने अपने देवता की पूजा की और मेरे देवता ने उन फूलों को सर्वत्र वर्खेर देने का आदेश किया। ‘ब्रह्मचर्य-सन्देश’ की यही आत्म-कहानी है।

शताब्दी के अवसर पर यह ग्रन्थ आंग्लभाषा में लिखा गया। अपने दंग का यह पहला ही ग्रन्थ था, इसलिये ज्ञात न था कि इस का जनता में कैसा स्वागत होगा। अग्रेन्नी में दो हजार प्रतियाँ छपवाई गई थीं, वे सब निकल गईं, और इसे दोबारा प्रकाशित करने का प्रश्न उपस्थित हुआ। इस समय तक मेरे पास सैकड़ों पत्र इकट्ठे हो गये थे। सब कहते थे कि इस पुस्तक ने उन की आँखें खोल दी हैं। परन्तु उन की शिकायत थी कि यह पुस्तक बचपन में ही उन के हाथ क्यों नहीं पहुँची, और साथ ही वे लिखते थे

कियदि बचपन में ही उन्हें यह पुस्तक मिलती तो शायद आंगभाषा न समझने के कारण उन के पल्ले कुछ न पढ़ता । सब की तान इसी पर टूटती थी कि यह पुस्तक हिन्दी में होनी चाहिये । कई पिताओं की चिड़ियाँ आर्यीं, यदि इस का हिन्दी-रूपान्तर हो जाय तो वे उसे अपने पुत्र के हाथ में देना चाहते हैं ; कई भाईयों की चिड़ियाँ आर्यीं कि यदि यह पुस्तक हिन्दी में हो तो वे इसे अपने छोटे भाई को भेट करना चाहते हैं । मेरे पास इतने पत्र पहुँचे हैं कि मेरा विधास हो गया है, इस पुस्तक की हिन्दी जनता को ज़खरत है । अंग्रेजी की पुस्तक वर्किलों, डाकटरों, वैरिस्टरों, अध्यापकों तथा उच्चकक्षा के छावों के हाथों में ही पहुँची है । उन की यह निश्चित सम्मति है कि जिस ढंग से इस पुस्तक में ब्रह्मचर्य के विषय को खोला गया है वह अत्यन्त उल्काए-कोटि का है । ब्रह्मचर्य पर हिन्दी में कई पुस्तकें हैं परन्तु जिस पुस्तक में युवकों के एक-एक प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया गया हो ऐसी पुस्तक एक-आध ही होगी । ‘ब्रह्मचर्य बड़ी अच्छी चीज़ है’—इतना कह देने मात्र से युवकों को कुछ समझ नहीं पड़ता । उन के मस्तिष्क में अस्पष्ट-से विचार धूमने लगते हैं । जिन मित्रों ने मेरी अंग्रेजी की पुस्तक पढ़ी है उन का कहना है कि उस पुस्तक से उन्हें ब्रह्मचर्य के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है ; भाषा को छोड़ दिया जाय तो भी उन के पल्ले कुछ बच रहता है । उन्हीं मित्रों के आग्रह से आज यह पुस्तक हिन्दी-भाषी जनता के सन्मुख रखने की धृष्टा कर रहा हूँ । इस पुस्तक में ब्रह्मचर्य

के गीत गाने में कुछ कसर नहीं छोड़ी गई, परन्तु उन गीतों के साथ-साथ उस के वैज्ञानिक स्वरूप पर भी विस्तृत विचार किया गया है, उस के हरेक पहलू पर प्रकाश डाला गया है। गुजराती तथा मराठी में इस पुस्तक का रूपान्तर हो चुका है। इस पुस्तक में अंग्रेजी की पुस्तक से बहुत कुछ ज्यादह है। मैं चाहता था कि गुजराती तथा मराठी के अनुवादक कुछ देर ठहरते और अंग्रेजी से अनुवाद करने की अपेक्षा मेरी हिन्दी पुस्तक से अनुवाद करते। परन्तु उन्हें जल्दी थी। मैं चाहता हूँ इस पुस्तक का भारत की सब भाषाओं में अनुवाद हो जाय और १३-१४ वर्ष की आयु के प्रत्येक बालक के हाथ में यह पुस्तक पहुँचे। इस पुस्तक का दूसरी भाषाओं में अनुवाद करने की सब को खुली छुट्टी है।

यह 'सन्देश' इस युग के प्रवर्तक ऋषि द्यानन्द का 'सन्देश' है। उसी सन्देश को आधार में रख कर, उसे पुष्ट बनाने के लिये पाश्चात्य विद्वानों के ग्रन्थों से सहायता लेने में संकोच नहीं किया गया। इस में जो कुछ है वह दूसरों का है; बस, भाषा मेरी तथा दृष्टिकोण ऋषि द्यानन्द और आचार्य श्रद्धानन्द का है।

इस पुस्तक के लिखने में पं० कृष्णदत्त जी आयुर्वेदालंकार, फैज़ावाद, ने बहुत सहायता पहुँचाई है। शारीर-शास्त्र के अध्यार्थों का उल्या तो प्रायः उन्हीं का किया हुआ है। पं० शंकरदत्त जी विद्यालंकार ने इस पुस्तक के प्रकाशन में बड़ी सहायता की है।

( ८ )

उक्त दोनों भाईयों का हार्दिक धन्यवाद है। यदि इस पुस्तक से एक भी आत्मा के उत्थान में सहायता मिलेगी तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा क्योंकि एक चेतन आत्मा इस अखिल जड़ जम्भू से अधिक मूल्यवाला है।

सत्यत्रत सिद्धान्तालङ्घार

# ब्रह्मचर्य-सन्देश

— २२५ —

## प्रथम छात्रसाय

क्या यह विषय गोपनीय है ?

तृतीय एक गन्दे वातावरण में साँस ले रहे हैं। हरेक धास के साथ न जाने कितने गन्दे विचार हमारे दिमाग में जा पहुँचते हैं और न जाने कितने ही और, भीतर प्रविष्ट होने की तैयारी करने लगते हैं। नन्हे-नन्हे बालकों का मस्तिष्क तथा हृदय को मल कोंपलों के फूटने और सुरभित कुसमों के खिलने से उल्लसित होने वाले नवयौवन में ही दुर्गन्धयुक्त कीचड़ से भर जाता है। आठ या दस वर्ष के बालक के चेहरे को देखने से कुछ पता नहीं चलता परन्तु उस के बन्द हृदय-कपाट को खोल कर देखा जाय तो अन्दर एक भट्ठी धधकती नज़र आती है जिस की लपटों से— जो थोड़ी ही देर में प्रचण्ड रूप धारण कर लेंगी—वह बालक कुलसने वाला होता है। वह नहीं चाहता कि उस के ‘भीतर’ भाँका जाय। इस का विचार ही उसे कंपा देता है, नख से शिख तक हिला देता है। वह जानता है, उस के भीतर कीचड़ की

दलदल जमा हो रही है, भस्म कर देने वाली आग सुलग रही है। किसी अज्ञात प्रेरणा से वह किसी को अपने अन्तः करण में माँकने नहीं देता—परन्तु फिर भी इकला बैठ कर वह भीतर के इन्हीं छिपे हुए पद्मों को उठा-उठा कर उन की माँकियाँ लिया करता है, भीतर जमा किये 'गुप्त-रहस्यों' को उलट-पलट कर देखा करता है।

हाय वे 'रहस्य' ! वे गुप्त-रहस्य ही तो बालक की आत्मा को चाट जाते हैं। प्रारम्भ में वह इन रहस्यों को समझना चाहता है। अपने दो-चार हमजोलियों से कुछ पृष्ठता है, पर वे कलखियाँ चलाते और शैतान की हँसी हँस देते हैं। जो इन 'रहस्यों' को रहस्य न समझे वह भोला; उस का मजाक उड़ता है; उसे उल्लू बनाया जाता है। चारों तरफ का समाज गन्ढा है—अत्यन्त गन्ढा। इन रहस्यों को रहस्य कह कर उन्हें दबाया नहीं जाता, मिटाया नहीं जाता, परन्तु अह को अंगूठा दिखा देनेवाले उपायों से, समाज की गोद में पलनेवाले हरेक चचे के गले के नीचे उतारा जाता है। वही भोला बालक जो कुछ समय पहले रहस्यों से कोरा था समय गुज़रने पर यारों की महफिलों में 'छंटा हुआ' गिना जाता है। गुप्त बातें न जाने किस गुप्त रूप से उस के दिमाग़ को भर देती हैं। शान्त प्रकृति चब्बल हो उठती है, आग में लपटें उठने लगती हैं, समुद्र में ज्वार आ जाता है।

समाज कहता है, यह विषय गोपनीय है। माता-पिता कहते हैं, चुप रहो, इस पर एक शब्द भी हमारे बैठे के कान में मत डालो।

अध्यापक लोग बालक को स्पष्टरूप से कुछ नहीं कहना चाहते। बालक के हृदय में प्रकृति की प्रत्येक वस्तु को देख कर उत्सुकता उत्पन्न होती है, इन 'गुप्त-रहस्यों' के विषय में भी उसे उत्सुकता सताने लगती है। परन्तु वह देखता है कि इस विषय की कोई बात भी उस के होठों पर आने से पहले ही उस का गला घोट दिया जाता है। 'चुप रहो, आगे से इस बात को ज़बान से भत निकालो!'—चारों तरफ़ चुप्पी, चुप्पी ! सब स्थाभाविक रास्ते बन्द देख कर बालक अपने रास्ते स्वयं निकाल लेता है। यह चुप्पी बोलने से भी ज्यादह तबाही मचा देती है। माता-पिता के, अध्यापकों के, गुरुओं के बिना सिखाये बालक बहुत कुछ सीख जाता है—योड़े ही समय में इतना सीख जाता है जिसे मुलाने के लिये एक जन्म तो क्या कई जन्म भी काफ़ी नहीं हो सकते। वह जो कुछ सीख जाता है उसे देख कर माता-पिता सिर धुनते हैं, गुरु लोग आँसू वहाते हैं और उस का जीवन खिले हुए फूल की पंखड़ियों को मसल देने के समान मुरझा जाता है।

तो फिर, क्या यह विषय सचमुच गोपनीय है? क्या दोस्तों का खिल्ली उड़ाना, माता-पिताओं का आँखें दिखाना, गुरुओं का मौन साध जाना—यह सब कुछ उचित है?

मैं तो नहीं समझ सकता कि इस विषय को इतना गोपनीय क्यों माना जाता है। अफ़सोस तो यह है कि इसे गोपनीय होने के साथ गन्दा भी समझा जाता है! हम लोगों की समझ में न जाने यह क्यों नहीं आता कि मानव-शरीर में जिस प्रकार

फेफड़े, जिगर और पेट हैं, और उन्हें अपना-अपना काम करना होता है, उसी प्रकार मनुष्य-शरीर में उत्पादक अवयव हैं। मनुष्य के शारीरिक अंग सभी पवित्र हैं, सभी उपयोगी हैं, और प्रत्येक अंग के उचित उपयोग का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। इन अंगों को, और इन के सम्बन्ध में चर्चा को, गोपनीय तथा गन्दा इसीलिये समझा जाता है क्योंकि दुश्चित्र लोगों ने इन अंगों का दुरुपयोग किया है। शरीर के इन पवित्र अंगों के विषय में चर्चा करते ही उन की स्मृति में विषय-वासना से सनी हुई तस्वीरें चक्कर काटने लगती हैं। उन की विचार-धारा गन्द की नाली में बहा करती है। परन्तु क्या इस विषय की चर्चा सचमुच गन्दी-चर्चा है? तो फिर, सृष्टि की अन्य वस्तुओं की चर्चा गन्दी-चर्चा क्यों नहीं? ऐसे व्यक्तियों से पूछो कि वे आँख तथा कान की चर्चा करते हुए क्यों नहीं शर्म के मारे चुल्लू भर पानी में छूब मरते, गुरुत्व तथा वर्पा के नियमों पर बहस करते हुए क्यों नहीं लजाते, क्यों वे शारीरिक पवित्रता के सम्बन्ध में कहीं गई उन बातों को, जिन्हें वे भूल से छिपी हुई समझते हैं, सुन कर सिर नीचा कर लेते हैं, उन्हें गन्दा कहते और उन से अपनी सन्तान को बचाने की कोशिश करते हैं?

यदि नवयुवक इस चर्चा से कर्तई अनभिज्ञ हों तो निस्सन्देह प्रश्न हो सकता है कि इन बातों के ज्ञान से कहीं भलाई के स्थान पर बुराई तो नहीं हो जायगी। परन्तु जब हम अपनी आँखों से नवयौवन की सरलता को उद्दीयमान प्रभात में ही ग्रसा हुआ

देखते हैं, बचपन की सफेद चाढ़र को कल्पना रहित काले धब्बों से रंगा हुआ पाते हैं तो सहसा मुख से मिकल पड़ता है: 'क्या इस चुप्पी से हम पाप के भागी तो नहीं बन रहे ? कहीं ऐसा तो नहीं कि हमारा मौन लाखों निस्सहाय नवयुवकों को निराशा के अथवा गर्त में धकेल दे और फिर उन के उद्धार की कोई आशा ही न रहे ।' संसार के सम्पूर्ण विज्ञ-समुदाय की इस विषय में एक मति है । उत्पादक-अंगों के सम्बन्ध में वालक कहीं न कहीं से ज्ञान पा ही जाता है । या तो उस की दिनोंदिन बढ़ती हुई उत्सुकता को शुद्ध, पवित्र स्नोत से शान्त कर दिया जाय, नहीं तो आदम और हज्वा की सन्तान शैतान से सब कुछ सीख ही सकती है ! क्या ही अच्छा होता यदि, पशुओं की तरह, मनुष्य को भी बिना सिखाये त्वयं ही इन विषयों का निसर्ग द्वारा ज्ञान हो जाता । परन्तु मनुष्य और निसर्ग ! नैसर्गिक ज्ञान होने का समय भी नहीं आता कि मनुष्य सब कुछ सीख जाता है, और उस के सीखने का साधन सदा गन्दा—अत्यन्त गन्दा—होता है । वह बहुत कुछ अपने आचार-भ्रष्ट साथियों से सीख जाता है, बहुत कुछ समाज में चले हुए हँसी-मखौलों से सीख जाता है और बहुत-कुछ छापेखाने की मेहरबानी से दिनोंदिन बढ़ रहे अश्लील साहित्य से, अश्लील चित्रों से, सीख जाता है ।

यह नभोमण्डल न जाने कितने नवयुवकों के हृदय-वेधी आर्तनादों से व्याप्त हो रहा है । कितनों की पुकार आत्मान को फाड़ २ कर उठ रही है : 'हाय, क्या ही अच्छा होता, यदि पहले

कुछ पता लग गया होता !’ जब से मंत्री ‘ब्रह्मचर्य’ विषयक अप्रेज़ी की पुस्तक नवयुवकों के हाथों में पहुँची है तभी से लगातार मुझे पत्र आ रहे हैं। युवक-मण्डली तरस रही है। मुझे पत्र आते हैं : ‘आप की पुस्तक ने मुझे बचा लिया होता यदि दो साल पहले यह मेरे हाथ पड़ गई होती ।’ मैंने ऐसे नवयुवकों को उत्तर देते हुए सदा यही लिखा है : “ ऐ मेरे नौ-जवान दोस्त ! यदि तेरे वे दिन गुज़र गये हैं, तेरे कन्धों पर निराशा का बोझ लाड़ कर सदा के लिये गुज़र गये हैं, तो भी पल्ला भाड़ कर उठ सड़ा हो—बीती को बिसार दे और आगे की चिन्ता कर। जीवन को नये सिरे से शुरू कर दे। याद रख—जो नयी काग़ा पलटना चाहते हैं उन के लिये ‘देर’ शब्द का कुछ अर्थ ही नहीं है। यदि तुझे पता लग गया है कि जीवन के इन आवश्यक नियमों के उल्लंघन का दुष्परिणाम क्या होता है तो अपने अनुभव का सहुपयोग कर। यदि तू अभी चढ़ती जवानी में है तो अपने से बड़ों के जीवन की पाठशाला में सीखे हुए अनुभवों से कायदा उठा। ये अनुभव अनमोल हैं ।”

प्यारे नौजवान ! मानव-समाज के इन अनुभवों को मैं तुझ तक पहुँचाना चाहता हूँ। इस पुस्तक में मनुष्य-जाति के ब्रह्मचर्य विषयक अनुभवों का सन्देश है। मैं इस उत्तरदायित्व-पूर्ण बोझ को हाथ न लगाता यदि तेरे बड़े, तेरे माता-पिता और गुरुजन, तेरे प्रति अपने कर्तव्य को समझते और हाथ में मशाल लेकर तेरे जीवन-मार्ग में पड़नेवाले गढ़ों से तुझे सावधान कर

देते । परन्तु अफ़सोस ! उन्हें इस काम के लिये न फुरसत ही है, न वे इस के महत्व को ही समझते हैं । प्रत्येक नवयुवक की जीवन-नौका संसार के अथाह समुद्र में किसी अपरिचित तट की खोज में चली जा रही है, मार्ग में न जाने कितनी भयंकर चट्टानें समुद्र के जल से ढकी हुई छिपे हुए सिरों को उठाए खड़ी हैं जिन की एक ही टक्कर से नौका चकनाचूर हो सकती है । मैं यह दृश्य अपनी आँखों से देख रहा हूँ, किर क्यों न खतरे की घण्टी बजा कर ऊँधते माँझी को जगाने की कोशिश करूँ ? ऐ नाविक ! हुशियारी से पतवार को पकड़े रह, कहीं आँधी तुम्हे रास्ते से भटका न दे ; आँखें खोल कर अपनी किरती को खेये जा, कहीं समुद्र के गर्भ को चीरता हुआ नक तेरी नौका को निगल न ले ; सावधानी से चप्पू चलाये जा, कहीं चट्टानें तेरी नौका से टकरा कर उस के दुकड़े २ न कर दें ! सावधान—इस संकटमयी यात्रा में प्रतिक्षण सावधान । यह यात्रा लम्बी है—वहुत लम्बी है—और समय उतनी ही जल्दी उड़ता चला जा रहा है । इस यात्रा में तूने कहीं भी ग़लती की तो देखना तेरे प्रभु का रचा हुआ यह सारा खेल बना-बनाया विगड़ जायगा ।

## द्वितीय अध्याय

### प्रेम की खिलती हुई कलियाँ !

स्थाना की स्थेहमयी मृदु पुचकार किस के रोम-रोम को पुलकित नहीं कर देती ; प्यारी बहिन को देख कर किस का हृदय आनन्द के सोते में गोते नहीं खाने लगता ; कहीं पर किसी अज्ञात व्यक्ति से चार आँखें होते ही किसे स्वर्गीय संगीतों की मधुर-ध्वनि नहीं सुनाई पड़ने लगती ? इसी को प्रेम कहते हैं ।

प्रेम ! अहो, यह कैसा मीठा शब्द है । कवि और किसान, युवा और युवती—सभी ने इस की मिठास में अपने को मुला दिया है । किस आत्मा में प्रेम की तड़पन न होगी ; कौन सा हृदय प्रेम के रसमय गूढ़ आलिंगन से बन्धित रहना चाहेगा ; कौन सा अधर प्रेम के विहल चुम्बन के लिये अकुला न उठेगा । यह दो अक्षरों का छोटा सा शब्द विश्व की असीम शक्ति को अपने अन्दर कैद कर बैठा हुआ है । यह एक अपूर्व जादू है । दो वरस का नन्हा सा बालक इसी के बन्धन से रिंचा हुआ, व्यावहारिक भाषा का एक शब्द भी न जानता हुआ, अपनी माता की रसभरी आँखों में से उस के अन्तःकरण तक पहुँच जाता है ; प्रेमिका इसी की शब्द रहित मौन भाषा में एक एक चितवन से प्रेमी के चित्त-पटल पर बिजलियाँ चलाने लगती

है। प्रेम सीमाओं को लाँघ जाता है, दीवारों को तोड़ देता है, खाइयों को भर देता है—यहाँ तक कि अपनी तपाने और गलाने की शक्ति से विश्व की विविधता को मिटा देता, एक रसता का अखण्ड स्वर्गीय साम्राज्य पृथिवी पर स्थापित कर देता और जीवन को खोखले की जगह भरा हुआ, मुहताज की जगह समृद्ध तथा दुःखमय की जगह सुखमय बना देता है।

प्रेम-पुष्प की सुगन्ध मादकता लिये होती है। इस की प्रथम कलिका का विकास ही कोमल व्यस्त के बालक को यत-वाला बना देता है। इस कमनीय फूल के बीजों को हृदय की उपजाऊ भूमि में बैरेने के लिये कोई देवदूत मौके की ताक में फिरा करता है और अनुकूल ऋतु के आते ही प्रेम के बीज बो देता है। वस, नवयुवक अपने बीस साथियों में से किसी एक को अपने हृदय में चुन कर उस की आराधना करने लगता है। अन्वानक उसे एक दिन साफ़-साफ़ मालूम हो जाता है कि वह स्कूल के अपने उस साथी की तरफ़ सिंच रहा है। स्कूल की छुट्टी का समय उसी के साथ बिताने को जी चाहता है। धीरे धीरे ऐसी इच्छा उत्पन्न होने लगती है कि वह हर समय साथ रहे। उस के चेहरे में एक अद्भुत आकर्षण रहता है, वह सुन्दर है! शरीर की सब शक्तियाँ उसी में केन्द्रित हो जाती हैं। उसे छोड़ने पर जी नहीं मानता। स्वप्न में वही दिलाई देने लगता है, जागते हुए भी जब वह समीप न हो तो उसी की प्रतिमा आँखों के सामने घूमती है। फिर जब कभी उस से कुछ देर के लिये

विक्रोह हो जाता है तब अन्तरात्मा व्याकुल हो उठता है, मानो हृदय उसी को ढूँढ रहा हो, और उस के अचानक सामने आ जाने पर मनुष्य सहम-सा जाता है, मानो अपने को इस अधीरता के लिये धिक्कारना चाहता हो । उस के मुख से निकला हुआ एक-एक शब्द आत्मा में उल्लास की गुदगुदी-सी पैदा कर देता है, उस की तिरस्कार पूर्ण एक नज़र अधीर और पागल बना देती है, आशा की अन्तिम किरण को भी लुप्त कर देती है । युवक को मालूम हो जाता है कि वह अब अपनी आत्मा का मालिक नहीं रहा । उस की आत्मा को किसी ने काबू कर लिया है, कैद कर लिया है— वह आनखशिख प्रेम में डूब गया है !

युरुप तथा अमेरिका में लड़के-लड़कियाँ एक ही स्कूल में पढ़ते हैं और उन्हें घरेलू जीवन में भी आपस में एक दूसरे के सम्पर्क में आने का मौका बहुत काफ़ी मिलता है । लड़का किसी सुन्दर लड़की से प्रेम करने लगता है, दिनभर उसी के ध्यान में डूबा रहता है । भारत में सामाजिक बन्धनों के कारण लड़के-लड़कियाँ अलग-अलग स्कूलों में पढ़ते हैं, उन्हें परस्पर मिलने का अवसर प्राप्त नहीं होता अतः यहाँ पर लड़का अपने साथियों में से किसी लड़के की तरफ़ ही रिंच जाता है, उसी पर अपने 'प्राण न्यौछावर' करने के लिये तैयार रहता है, उसे अपना 'अनन्यतम' कहने लगता है । परन्तु युरुप तथा भारत के विद्यार्थियों के मनोभावों की यह विलक्षणता मौलिक नहीं है । लड़कों

का लड़कों से प्यार करना युरूप तथा अमेरिका में भी कम नहीं है। वहाँ पर लड़कों को लड़कियों के साथ रहने का मौका मिल जाता है इसलिये लड़के-लड़कों की मैत्री वहाँ इतनी ज्यादह नहीं नितनी लड़के-लड़कियों की। लड़कों की आपस की यह घनिष्ठता प्रायः विवाह के बाद कम हो जाती है। प्रेम का यह साधारण-सा अभिनय प्रायः प्रत्येक बालक के विद्यार्थी-जीवन में खेला जाता है; इस अभिनय में मन की किञ्चन्चनमात्र भी कलुपता के न होते हुए कई 'प्रेमी' बनते हैं और कई 'प्रेमपात्र'! परन्तु मूल के लड़कों का यह नाटक कुछ ज्यादह दिनों तक नहीं चल सकता। भोले, निष्कलंक जीवन की लहरों पर बने हुए चशिक मनोभावों के ये बुद्धुदे शीघ्र ही फूट जाते हैं—दो ही चार दिनों में पुरानी दोस्तियाँ टूटती और नई बनती हैं, और इसी प्रकार लड़के-लड़कियों का बचपन का यही खेल चलता रहता है। क्यों पाठक ! भोले-भाले बालकों और बालिकाओं का मंजूदार-शरारत से भरा हुआ यह खिलवाड़ देखने में कितना मीठा लगता है ?

यदि यह खेल खेल ही रहे, और फिर टूट जाय, तो हँस देने के सिवाय और कुछ करने या कहने की ज़रूरत न रहे। परन्तु कुछ ही दिनों के बाद लड़के खेल की अवस्था से थागे निकल जाते हैं। उन की आयु ज्यों-ज्यों बढ़ने लगती है त्यों-त्यों वे प्रेम के जादू में ज्यादह फँसने लगते हैं। 'प्रेम'—इस दो अक्षरों के शब्द में उन्हें अचिन्तनीय, अन्तर्णनीय रहस्य दीख

पड़ने लगते हैं और इन रहस्यों के उद्घाटन के साथ-साथ उन के स्वच्छ, निष्कलंक मुख्याकाश पर कृष्ण-वर्ण के गंध मंडराने लगते हैं। सरस-प्रेम जिस में से सरलता उपकरी थी नव-योगीन के सञ्चार से उद्भान्त हो जाता है। वह 'बालक' का प्रेम नहीं रहता, 'युवक' का प्रेम हो जाता है, और इस प्रकार के दिशा परिवर्तन का प्राकृतिक कारण है। वह क्या ? मुनिये !

मनुष्य के मस्तिष्क के मुख्यतः दो भाग किये जा सकते हैं:—अगला तथा पिछला। मस्तिष्क का अगला भाग 'बड़ा-दिमाग्' (सैखिम) कहाता है और पिछला 'छोटा-दिमाग्' (सैरिवेलम) कहाता है। 'बड़ा-दिमाग्' हमारी खोपड़ी में सब से अधिक स्थान धेरता है। यह आगे भौंहों के पास से चल कर पीछे के उभे हुए भाग तक फैला रहता है। यह दो अर्धवृत्तों में बैटा रहता है—दाँए और तथा बाँए और। दोनों हिस्सों में, किसी के ज्यादह और किसी के कम, द्राङ्गें बनी रहती हैं। द्वंद्वे दिमाग् के कुछ नीचे, गले के कुछ ऊपर, पीछे की ओर, 'छोटा-दिमाग्' एक कान से दूसरे कान तक फैला रहता है। यह भी बाँए तथा दाँए दो अर्धवृत्तों में बैट कर मेरुदण्ड जहाँ से शुरू होता है। वहाँ उस के ईर्द-गिर्द लिपटा रहता है। इस में भी द्राङ्गें बनी होती हैं। ये द्राङ्गें दिमाग् को भिन्न-भिन्न भागों में बाँटती हैं और इन की गहराई दिमाग् की ज्ञान की शक्ति को सूचित करती है। दोनों दिमाग् मनुष्य की खोपड़ी में सुरक्षित रहते हैं जिसमें उन्हें फैलने के लिये पर्याप्त स्थान मिलता है। बड़ा-

दिमाग्, श्रात्मा के शरीर में होने पर, पञ्चज्ञानेन्द्रियों के अनुभव किये हुए विषयों का साज्जात्कार करता है, अथवा उन के अनुभव को सविकल्पक ज्ञान बना देता है। आँख देखती है, कान सुनता है, नाक सूखती है, जिहा रस लेती है, त्वचा स्पर्श करती है—परन्तु यदि ज्ञान-तन्तुओं द्वारा इन इन्द्रियों के अनुभव बड़े दिमाग् तक न पहुँचे तो किसी प्रकार का प्रत्यक्ष न हो। इसीलिये इन्द्रिय-ज्ञान का केन्द्र बड़ा दिमाग् माना गया है। छोटा दिमाग् घेरेलू—गृह-सम्बन्धी—प्रवृत्तियों का तथा शरीर की मिन्न-भिन्न हरकतों को बश में रखने का काम करता है। इसी से पट्टों की गति का नियमन, शरीर का वशीकरण तथा माता-पिता और कुटुम्बियों के प्रति थोड़े या बहुत प्रेम का सञ्चालन होता है। यदि छोटे दिमाग् को किसी प्रकार की हानि पहुँच जाय तो मनुष्य अपनी शारीरिक हरकतों को बश में नहीं रख सकता और चलते-फिरते आगे-पीछे गिरने तथा डगमगाने लगता है। मादक पदार्थों का सेवन प्रायः छोटे दिमाग् को ही प्रभावित करता है, इसीलिये शराबी अपनी गति को स्थिर नहीं रख सकता। प्रेम के भावों का सम्बन्ध भी इसी दिमाग् से है इसीलिये प्रेम के उन्माद में मनुष्य की अवस्था शराबी से किसी प्रकार अच्छी नहीं रहती। इस प्रकरण में हमें छोटे दिमाग् पर ही विशेष ध्यान देना है।

छोटे दिमाग् के, जैसा अभी कहा गया, दो काम हैं—

( १ ) यह सांसारिक प्रवृत्तियों का केन्द्र है। प्रेम-भाव, समाज-प्रेम, दाम्पत्य-स्नेह, वात्सल्य-भाव, मैत्री-भाव, गृह-निवासेच्छा,

तत्परायणता— सभी का सञ्चालन इसी से होता है । और, ( २ ) इस का काम शरीर की भिन्न-भिन्न गतियों को वग में करना, उन्हें सीमित तथा नियन्त्रित रखना भी है । चलना, फिरना, बैठना, उटना, खड़े रहना, हाथ नुमाना, उँगलियाँ चलाना, उड़ना— इन सब का सञ्चालन भी इसी से होता है ।

वचपन में छोटा दिमाग् सारे दिमाग् का बीमार्हा हिस्सा होता है परन्तु २५ वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते यह बढ़ कर सारे दिमाग् का सातवाँ हिस्सा हो जाता है ।

जिस समय छोटा दिमाग् बढ़ने लगता है उस अवस्था को कुमारावस्था कहते हैं । 'कुमार' शब्द का अर्थ है—'कुत्सित है मार जिस के लिये'—अर्थात् जिस अवस्था में काम-शासनावालक के जीवन को नष्ट कर सकती है ! छोटे दिमाग् के बढ़ने का नतीजा यह होता है कि जीवन में मारशक्ति—कामशक्ति—का सञ्चार होने लगता है । प्रेम की कलियाँ फूट पड़ती हैं, जीवन के रहस्यों, जीवन की गोपनीय बातों की तरफ़ कुमार तथा कुमारी का ध्यान अधिक आकर्षित होने लगता है । उस समय जीवन की जो अवस्था हो जाती है, भला वह किसी से छिपी है ? इस सूखे जीवन में नवीन रस की लहरें उमड़ पड़ती हैं । खून जोश मारने लगता है । नस-नस एक अपूर्व शक्ति के सञ्चार से फ़इकने लगती है । मनुष्य हवा में उड़ने लगता है । वह अपने को एक नई-ही दुनियाँ में पाता है । जवानी की शराब के वह प्याले पर प्याले चढ़ाने लगता है । ऐसा मज़ा उसे पहले

कभी न आया था, ऐसा स्वाद उस ने पहले न चखा था । उस पर मस्ती छा जाती है और इस मस्ती में वह प्याले में भरी जवानी की शराब को बड़े-बड़े धूँट कर के पीने लगता है । थोड़ी ही देर में वह नशे से चूर हो जाता है, पागल हो जाता है ।

कुमारावस्था की यह छोटी सी कहानी है । पन्द्रह-सोलह वर्ष के किशोर के जीवन में जवानी के छिपे हुए रहस्य उथल-पुथल मचा देते हैं । कामभाव की प्रथम जागृति आदम तथा हृष्टा के पुत्रों तथा पुत्रियों के हृदयों में आँधी खड़ी कर देती है, और यदि इस वासना के घोड़े को संयम की लगाम से न कसा जाय तो यह आँधी बढ़ती २ तूफान का रूप धारण कर लेती है, इस के सन्मुख जो कुछ आता है उसी को उड़ा ले जाती है । क्या धनी क्या निर्धन, क्या लड़का क्या लड़की, प्रलय मचा देने वाला काम-वासना का तूफान जब एक बार भी उठ खड़ा होता है तब चारों तरफ़ सर्वनाश के चिन्ह दिखाई देने लगते हैं—आँधेरा, गर्द और बीमारी के सिवाय पीछे कुछ नहीं बचता । जब तूफान निकल जाता है तब मृत्यु की शान्तमुद्रा जीवन पर एकाधिपत्य जमा लेती है ।

कुमारावस्था में जीवन-रस बनना प्रारम्भ होता है । बच-पन से निकल कर किशोर बनते ही बालक के रुधिर में इस जीवनी-शक्ति का सञ्चार होता है । यदि यह जीवन-रस शरीर में खपा लिया जाय तो पट्ठे मज़बूत होते हैं, स्नायुओं में शक्ति भर जाती है, शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक गुणों का विकास

होने लगता है ; परन्तु यदि इस जीवन-रस का हास हो जाय तो जीवन शक्ति-हीन हो जाता है, भार बन जाता है ! जीवन-रस पर मन का साल्कालिक प्रभाव पड़ता है । शरीर के पट्टों को मज़्-वूत करने की सोचते रहो तो यह रस उधर ही को गतिशील हो जायगा, उच्च मानसिक विचारों में दिन-रात विचरण करो तो यह शक्ति दिमाग् को पुष्ट करने में लग जायगी । इस जीवन-रस को 'वीर्य' कहते हैं, 'रेतस्' कहते हैं । शास्त्रों में 'ऊर्ध्वरेता' उसे कहा गया है जिस का वीर्य कभी स्वतित नहीं होता । आदित्य ब्रह्म-चारी का जीवन-विन्दु नीचे की तरफ़ नहीं जाता । वह ऊपर ही ऊपर—मस्तिष्क की तरफ़—अपना मार्ग बनाता है । वेदों तथा उपनिषदों का यही आदर्श है । ब्रह्मचारी की आत्मा सदा परमात्मा में विचरती है और वह अपने जीवन-रस को आध्यात्मिकता के केन्द्र—मस्तिष्क—की तरफ़ ही प्रवाहित करता है ।

मनुष्य की मानसिक शक्ति यदि शरीर के गठन पर लगी रहे तो वीर्य शरीर को वीर्यशाली बना देता है, यदि मानसिक शक्ति की सहायता से वीर्य को स्मृति-शक्ति के बढ़ाने में लगाया जाय तो स्मरण-शक्ति वीर्य-शालिनी बन जाती है और यदि इस मानसिक शक्ति का उपयोग काम-वासना को उत्तेजित करने के लिये किया जाय तो काम-वासना भड़क उठती है—ऐसी भड़क उठती है कि मनुष्य वासना-मय हो जाता है । छोटे बालक में जब काम की प्रवृत्ति इस प्रकार जाग उठती है तो वह पाल में द्वाये फल की तरह जल्दी पक जाता है ; धीमे २ प्रदीप होने

वाले प्रेम के दीर्घे में धमाके से आग भभक उठती है; प्रेम का मीठापन वासना के तीखेपन में बदल जाता है; छोटी उम्र में ही बालक बड़ों की सी बातें करने लगता है। माता-पिता उस के इस अपूर्व तुद्धि-कौशल को देख कर अचरण करते, शायद कभी-कभी अपने ही को सराहते हैं, उन की समझ में नहीं आता, लड़का इतनी छोटी उम्र में इतना स्याना कैसे हो गया। उन्हें क्या मालूम, लड़के ने अपने स्यानेपन के लिये गुरु धार लिये हैं—वह रोज़ गलियों में फिर कर उन गुरुओं से शिक्षा-दीक्षा लिया करता है। वह कई बातों में असाधारण उत्साह दिखाने लगता, कई बातों से न जाने क्यों शर्मनि लगता है। इस समय बालक के मस्तिष्क में प्रविष्ट हो कर कोई देख सके तो उसे पता चल जाय कि किन रहस्यों की गुत्तियों को सुलभाने में वह दिन-रात एक किये रहता है। उस के मन की सम्पूर्ण शक्ति कामुकता के संस्कारों को जगाती और उन्हीं में खेला करती है। उस का छोटा मस्तिष्क, जिस का पूर्ण विकास २५ या ३० वर्ष तक की आयु में होना चाहिये था अभी से—दूसरे, बारह वर्ष की आयु से—बढ़ने लग गया है और दिनोंदिन बड़ी तेज़ी से बढ़ता चला जा रहा है। अभी वह पढ़ना-लिखना बहुत कम सीख पाया है इसलिये अश्लील नाटकों तथा उपन्यासों से वह कुछ २ बचा रहता है परन्तु गन्दे साथियों से उसे बचाने वाला कोई नहीं है। जिस समय उस का मस्तिष्क गन्दे संस्कारों में पोषण पा रहा होता है उसी समय सक्रील खाना, मिठाई, खटाई, आचार, चाय,

काफ़ी और दूसरी गन्दी आदतें मिल कर हमारी वर्तमान-अवस्था की समाज में पलने वाले लड़के-लड़की की कामागिन को भड़काने में धी की आहुति का काम करती हैं। भनुष्य का वस्त्रन्तमय वचपन का जीवन ज्यों ही पल्लवित तथा पुष्पित होने लगता है त्यों ही कोई आततायी आकर इस मुन्द्र पौंद्र को जड़ से उखेड़ डालता है। वह दुष्ट उस दिन की भी प्रतीज्ञा नहीं करता जब यह पौंद्र बड़ा होगा, इस में कलियाँ लगेंगी, फूल खिलेंगे और सारा उद्यान उन की स्वर्गोपम सुगन्ध से महक उठेगा, उन के भाँति २ के रंगों से चमक जायगा। अफ़सोस ! इस पौधे की रक्षा करने वाला कोई माली नहीं दिखाई देता। माली हैं—परन्तु ऐसे माली जो इस के स्वाभाविक विकास को नहीं देख सकते, इसे जड़ से खींच कर एकदम बड़ा कुरना चाहते हैं, इस की कलियों को अपने कठोर हाथों से खोल २ कर उन्हें खिलाना चाहते हैं। इस का परिणाम ? थोह ! इस का भयंकर परिणाम !! पौधे का तना टूट जाता है, उस की कॉपले और कलियाँ कुम्हला जाती हैं। बालक का योवन नष्ट हो जाता है और 'सर्वनाश' आँखें फाढ़ २ कर उस के हृदय को कंपाने लगता है !

कुसंस्कारों से 'घोटा-दिमाग़' अपना काम जल्दी २ करने लगता है। बालक वचपन में ही आदमियों की-सी बातें करने लगता है। जो वज्र 'गुह्य-रहस्यों' की अनुचित चर्चा करते रहते हैं वे जल्दी स्थाने हो जाते हैं। वे इन चर्चाओं के शिकार

बन जाते हैं। ऐसे ही वचे हस्त-मैथुन, देश्यांगमन तथा अन्य गर्हित कृत्यों की धरकती हुई आग में बलि चढ़ जाते हैं। बाल-विवाह भी उन की अशान्त आत्मा को टण्ड नहीं पहुँचा सकता। और भोलेभाले माता पिताओ! यह 'रहस्य'-रूपी राज्ञस तुम्हारी असहाय सन्तानों को ग्रास की तरह निगलता चला जा रहा है, उन्हें बचाओ। शायद तुम अपने 'बालक' को इतनी जल्दी 'भनुप्य' बनते देख खुश होते हो, उसे बारह वर्ष की उम्र में पचीस वर्स के आदमी की तरह बातें करते देख दिल में फूले नहीं समाते हो, परन्तु याद रखो, यह तुम्हारी मूर्खता है। तुम्हारे सुकुमार बालक की श्रांगों के पीछे से भाँकने वाला 'भनुप्य' भनुप्य नहीं पर 'राज्ञस' है—आशु-परिपक्ता का राज्ञस है—जो उसे हड्डप जायगा, उस के जीवन को नष्ट कर देगा।

मैं चाहता हूँ यह पुस्तक बालकों के हाथ में पहुँचे। मैं एक-एक अङ्गर इस भावना से लिख रहा हूँ जिस से बालकों को अपने करण्डकारीण मार्ग में पगड़णडी निकाल लेने का साहस हो जाय, अन्धेरे में भी अपने लिये उजेला कर लेने की उन में शक्ति आ जाय। मेरे हृदय में कितनी प्रवल आकँक्षा है कि हर समय यह पुस्तक किसी-न-किसी बालक के हाथ में अवश्य हो। और बालक! इस बात-चीत का तेरे जीवन के साथ अत्यन्त धनिष सम्बन्ध है। सुन, यदि सम्हलना चाहता है तो सुन! जैसा मैं पहले लिख चुका हूँ, तू और तेरे जैसे दूसरे साथी लड़कपन में किसी की दोस्ती में फँस जाते हैं।

दुर्भाग्यवश यह घटना उसी समय होती है जब बालक जीवन के स्वतरनाक हिस्से में से गुज़र रहा होता है, यह हिस्सा कुमार-वस्त्या का होता है, इस समय काम की प्रवृत्तियाँ धीरे २ जाग रही होती हैं। प्यारे बालक ! जीवन का यह समय बड़ा सुहावना होता है परन्तु साथ ही वडे संकट का होता है। इसी समय तो अनेक बालक चरित्र भ्रष्ट करने वाली अनेक वातों को पहली बार सीखने लगते हैं। यह सोचते हुए हृदय को दुःख होता है, परन्तु उस से क्या, यह सच तो है, कि इसी समय पावनता अपने मुख पर कालिख पोत लेती है ; कोमल, सरल आत्माएँ कुटिल, कुत्सित साँप-सी बन जाती हैं ; सुन्दर और भोले बालक मनुष्य के आवरण में शैतान हो जाते हैं। फ़रिश्ते को शैतान में बदलते देख कर हृदय से दुःखभरी गर्म 'आह' निकलती है, आँखों से आँसू टपकते हैं, क्योंकि गिरते हुए को इस समाज में सभी धक्का देकर और जल्दी गिराने की कोशिश करते हैं उसे सहारा देने वाला कोई नहीं मिलता। वह ऐसा गिरता है कि उठना असम्भव सा जान पड़ता है। इस प्रकार जो दुश्चित्रता तथा पाप के पंक में निमग्न होने लंगता है, कभी उस की अवस्था पर विचार कर के तो सोचो ! 'भड़ाचार' शब्द उस के शब्द-कोश में से भिट जाता है—वह अपने किये का, और मातापिता तथा साथियों की भयंकर भूल का शिकार बन जाता है। समय आता है जब कि उस के पाप उसी तक सीमित नहीं रहते। अपना सर्वनाश कर अब वह अपने शिकार की खोज में

निकलता है। गिरावरी जाल विछा देता है, हरिन तथा ख़रगोश फैस जांते हैं। उसे विश का संचालन करने वाले भगवान् का गास्तन नहीं दिखाइ देता; वह उस के एक २ जियम को तिनका नमन कर तो इने लगता है। परन्तु क्यतक ? इस नशे से जगाने के लिये दीर्घीय कोप उस आभागे पर उबल पड़ता है। उस के दोहरे पापों के लिये उसे ऐसा तटपाया जाता है जिसे देख पार के मन्दूरे बान्धने वाले दाँतों तले उंगली द्वाने और आगे रखे हुए कदम को पीढ़ि फेर लेते हैं। दोहरे पाप—हाँ, दोहरे पाप ! एक पाप तो वे जो उस ने अपने निवित्र को तवाह कर के किये होने हैं और दूसरे वे जो उस ने निर्दीप आत्माओं को अपनी पाशादिक काम-वासना की टृप्ति में साथन बना कर किये होने हैं। और नर-पिशाच ! तुम्हें क्या हो गया ? रुक जा, पवित्र जीवन पर कीनड़ भगा हाथ फेरने से बाज़ आ जा ! सच्चित्रिता के बेहरे को अपना गन्दा हाथ लगा कर दृष्टित मत कर !

ओं क्रूर वृथिक ! तेरा जीवन निस्मन्देह अत्यन्त कुट्टिल है। तेरे निष्युक्त ढंक की असल पीड़ा से तेरा शिकार छटपटाने लगता है। परन्तु याद रख, एक निर्दीप आत्मा को डसने का पाप बगैर बदले के नहीं जाता। एक क्षण के मन बहलाव के लिये अपने जीवन को ख़ुतरे में क्यों ठालता है ? ठहर, ठहर ! एक ऐसे व्यक्ति पर जिस ने तेरा कुछ नहीं विगाड़ा ढंक चलाने से पहले ज़रा सोच तो ले। नहीं सोचेगा तो तेरा शिकार तो कुछ देर रो-दो कर अब्ज्ञा हो ही जायगा परन्तु याद रख तुम्हें कुचल दिया

जायगा । अपने जीवन की रक्षा कर, और उस निर्देश आत्मा की भी रक्षा कर जिसे तू अपनी कामागिन का पतंगा बना कर भस्म करना चाहता है ।

परन्तु सम्भव है, इन पंक्तियों का पढ़ने वाला 'शिकारी' न हो, 'शिकार' हो ; डसने वाला न हो, डसा गया हो ! और चालक ! यदि तू उन हतभागों में से है जिन पर कई वेवकूफ़ों की ज़िन्दगी और मौत निर्भर रहा करती है तो भी तुझे हुशियार रहने की ज़खरत है । वे अङ्ग के दुश्मन तेरी गोरी-गोरी चमकती चमड़ी पर मरते हैं ; आस्मान में तारों की तरह मिलमिल करती तेरी बड़ी-बड़ी आंखों पर जान देते हैं ; चाँद को शर्मा देने वाले तेरे गुलाबी गालों पर लट्टू होते हैं — यह सच है, इसे छिपाने की ज़खरत नहीं । तेरे जिस्म के चोले की चटक-मटक से रिंचे हुए वे तेरे चारों ओर ऐसे मंडराने लगते हैं जैसे फूल पर भैंरे । वे तुझे कहते हैं कि तेरे बिना वे ज्ञानभर भी नहीं जी सकते परन्तु याद रख वे सब चोर हैं, डाकू हैं, लुटेरे हैं । परमात्मा ने अपनी उदारता से सौन्दर्य का जो गहना तुझे पहनाया है उसी को चुराने के लिये वे तेरे ईर्द-गिर्द फिरते हैं ! और मूर्ख शिकार ! अपने ऊपर रहम खा, इन लुटेरों के चॅंगुल में मत फँस । शिकारी तुझे फँसाने के लिये बनावटी प्रेम का टुकड़ा फेंक रहे हैं — तू ललचाया नहीं और जाल में फँसा नहीं । परमात्मा ने तुझ पर सौन्दर्य की बौछार कर दी है, परन्तु इस अपूर्व धन को पाकर ज़रा डर : क्योंकि सौन्दर्य का होना घर में सुवर्ण के होने के

समान है। इस सोने को देख कर, चोर और लुटेरे, रात को, जिस समय तू बेखबर सो रहा होगा, तुम्ह पर टूट पड़ेंगे; तुम्हे लुट ले जायेंगे; इस में सन्देह नहीं कि वे अपनी जान को ख़तरे में डालेंगे परन्तु तेरा तो सर्वनाश ही हो जायगा। जिस समय तेरा धन तेरे पास है, उस समय उस की रक्षा कर क्योंकि वह ऐसा धन है जो जब एक बार लुट जाता है तो दर-दर भीख मंगवा कर ही द्वौड़ता है।

अरे दिल लुभाने वाले खूबसूरत फूल! मत समझ कि ये तितलियाँ जो पांच फड़फड़ा कर तेरी परिकमा कर रही हैं अनन्त-काल तक इसी तरह तेरे सौन्दर्य के गीत गाती जायेंगी। जब तक तेरे मधु की अन्तिम बूँद ख़तम नहीं हो जाती तब तक ये तेरा रस चूसती चली जायेंगी। और फिर,—फिर क्या? फिर वे दूसरे फूल पर मँडराने लगेंगी और तू मुरझा कर मट्टी में मिल जायगा। ऐ नौ-जन्मान! उस फूल को देख; उस फूल के मधु को देख; उस के मुर्झाए हुए धूल में मिल रहे पंखड़ियों के टुकड़ों को देख। धूल में एड़ियों के नीचे कुचले जा रहे फूल की 'आह' में तेरे जीवन के लिये मर्म-भेदी सन्देश भरे हुए हैं!

जब तक लड़के पढ़ना-लिखना नहीं सीखते तब तक वे दूसरी तरह से ख़राब होते रहते हैं, जब वे पढ़ने-लिखने लगते हैं तब वे कई तरह की बेहूदा बातें लिखना सीख जाते हैं। वे ख़त लिखते हैं और इन बेहूदा ख़तों का नाम 'प्रेम-पत्र' रखा जाता

है। सम्भवतः यह उस दूषित शिक्षा-प्रणाली का परिणाम है जो हमारे बच्चों को वर्तमान स्कूलों में दी जाती है। नव तक वालक भली-भाँति पढ़ना-लिखना नहीं सीख जाते तब तक उन के जीवन का यह पहलू सोया रहता है। अक्षरों का ज्ञान होते ही उन्हें अपने मनोभावों को प्रकट करने का एक नया रास्ता सूझ जाता है। बारह वर्ष की छोटी सी उम्र में भी लड़के इस तरह के वेहूदा ख़त लिखने में व्यग्र देखे गये हैं। १६ से २५ वर्ष की उम्र के भीतर यह प्रवृत्ति अपने उच्च शिखर पर पहुँच जाती है। इस समय प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कितना ही फीका कर्मों न लगता हो, रसीला हो जाता है और अखिल विद्य को अपने हृदय के अनथक संगीत से भर देना चाहता है। संसार के सुख-दुःख, सफलता-असफलता, आशा-निराशा, चहल-पहल—सब के मिश्रण से नवयुवक का हृदय कभी मीठी, कभी कड़वी तानों में झनक उठता है। नव-यौवन के उन्माद में वह मत्त हो जाता है—उस के ध्वास-ध्वास से 'प्रेम'-सने पत्र और प्रेम के रस से भीनी कविताएँ निकलती हैं। एक और प्रेम के भावों की हृदय में इस प्रकार बाढ़ आ रही होती है, दूसरी ओर वही समय युवक के चरित्र निर्माण का होता है। यदि मनुष्य के भावों को इस समय काबू किया जा सके, उसे सन्मार्ग दिखाया जा सके तो वह क्या से क्या न बन जाय? इस समय बनते हुए चरित्र को ऐसा ऊकाव दिया जा सकता है जिस से वह कवि, चित्रकार, साहित्य-सेवी, वैज्ञानिक, दार्शनिक—जो कुछ चाहे बन सकता

है, परन्तु इस मुश्वर से लाभ उठाने वाले ही कितने हैं और कहाँ हैं ? यह अपूर्व श्रवसर जब कि युवक के मस्तिष्क पर मनमानी द्वाप लगाई जा सकती है हम में से सब के पास, एक-एक के पास, कभी-न-कभी ज़ख्ल आता है। परन्तु यह श्रवसर एक ही बार आता है, और यदि उस समय इसका तिरस्कार कर दिया जाय तो फिर लौट कर नहीं आता । कालिनों में पढ़ने वाले कई लड़के शिकायत किया करते हैं कि वे श्रव उतने तेज़ नहीं रहे जितने वे पहले स्कूल के दिनों में थे । और हो भी कैसे सकते हैं जब कि उन्होंने एक मुर्खण्ड-श्रवसर को अपने हाथों ही खो दिया । यदि वे ज़रा भी अल्प से काम लेते तो अपने समय का अधिकांश भाग वेहूदा प्रेम-पत्रों और प्रेम-कविताओं के लिखने में न खोते । जो प्राणे उन्होंने किसी 'प्रेम-कविता' के पद्धको मन-ही-मन गुनगुनाने में, आस्मानी और हवाई बातों को अस्ती समझ कर उन के पीछे वेतहाशा ढैड़ने में ख़र्च किये उस से उन की मानसिक शक्ति बढ़ने के स्थान पर घटी, इस का उन्हें परिज्ञान नहीं ; जो शक्ति उन्होंने अपनी कल्पना के फूल तोड़ कर किसी प्रेम-पत्र के एक-एक अन्नर और एक-एक शब्द के सिंगार करने में व्यय की उस से उन के शरीर की बढ़ती रुकी, मन और आत्मा का विकास बन्द हो गया, यह भी उन्हें मालूम नहीं । किस्से-कहानियों में अंकित जीवन बड़ा मीठा मालूम होता है, उसी को जब कल्पनाओं में चित्रित किया जाय तब और भी मीठा मालूम पड़ने लगता है परन्तु कल्पना, स्वप्न, तस्वीर

और कहानी में दिखाई देने वाला जीवन वास्तविक जीवन नहीं है। नवयुवक प्रायः अपने कल्पित स्वर्ग-लोक में विचरा करता है। अचानक किसी दिन कल्पना का जादू उत्तर जाता है और वह गृहीत इसी नीरस मर्त्यलोक में आ टपकता है और अपने ही जैसे भग्न-स्वप्न जीवों को चारों तरफ पाता है। रात्रि की प्रशान्त मोहनिद्रा में उसे वह भयंकर चेतावनी की आवाज़ सुनाई पड़ने लगती है जो पहले भी आत्मा के अन्तर्म प्रदेश में से सदा उठा करती थी, कभी मूक नहीं हुई थी परन्तु फिर भी कभी सुनाई नहीं दी थी !

परन्तु क्या इन पंक्तियों का यह अभिप्राय है कि मैं प्रेम की कलियों को उन के प्रथम विकास में ही मसल देने का पाठ पढ़ा रहा हूँ ताकि इस दुःखमय संसार में वहने वाला पवन उन की मधुर मुस्क्यान को लेकर किसी भी दृद्ध भेरे दिल की जलन को दूर न कर सके ? क्या मेरा यह तात्पर्य है कि हृदय में उठती हुई प्रेम की ज्वाला को संसार की असारता के विचार-रूपी जल के छीटों से बुझा दिया जाय ? नहीं—कभी नहीं ! मैं इस बात को खूब समझता हूँ कि प्रेम ही जीवन है, प्रेम ही चलते-फिरते मनुष्य की सञ्जीविनी शक्ति है, प्रेम अखिल विश्व की स्थिति का कारण है। प्रेम के बिना हृदय के टुकड़े २ हो जाय়, आत्मा नीरसता के कारण जड़ हो जाय, अविरत चलनेवाला विश्व-संगीत एकदम स्तन्ध हो जाय। प्रेम ही सृष्टि के आदि में विकीर्ण जगत् के प्रथम-आणु में उत्पादन की अदम्य शक्ति का संचार करता है। कलकत्ता के हस्पताल में एक वेहोश महिला लाई गई। उस का

पार वर्ष का बच्चा खो गया था। वह उसे हूँढती हुई रेल की सड़क को पार कर रही थी कि इतने में रेलगाड़ी की टक्कर से चोट खा कर गिर पड़ी और बेहोश हो गई। उस की नाड़ी बन्द हो गई; हृदय के भीतर गति न रही, परन्तु उस की संज्ञा-हीन आँखें अपने खोये बच्चे की तलाश में बेहोशी में भी व्याकुल हो रही थीं। डाक्टरों ने कहा कि उस बेहोशी की हालत में भी, जब हृदय और नाड़ी ने गति करना छोड़ दिया था, केवल बच्चे के प्रेम ने उसे जीवित रखा। कुछ देर बाद उसके हृदय में फिर से गति पैदा हो गई। प्रेम ने मरते हुए को मरने न दिया और दृश्यमान मृत्यु में भी जीवन को कायम रखा। क्या इस प्रेम के विरुद्ध मेरे मुख से एक भी शब्द निकल सकता है? मैं खूब समझता हूँ कि यदि प्रेम न रहे तो जीवन जीने लायक ही न रहे।

कोमल-हृदया माता अपनी सन्तान के माथे पर चुम्पनों की बौछार कर देती है—उस द्वितीय प्रेम के विरुद्ध एक अज्ञर भी मुँह से निकालना और पाप है। ओह! माता का ध्यान किन छिपी हुई, सोयी हुई, प्यारी २ स्मृतियों को जगा देता है। उसी की प्रेमपर्यांगों में, उस की कोमल वाहों में पड़े २, स्वर्ग के झरने वहानेवाली उस की आँखों की तरफ देखते २ हम ने कई साल बिताये। उसी की संरक्षा में पलतं हुए हम ने संसार की तरफ एक अपूर्व कौतूहल से भाँकना शुरू किया, कुछ योड़ा-बहुत सीखा और आदमी बने। क्या उस का प्रेम भुलाया जा सकता है? कभी नहीं—सौ बार नहीं! दूरी इसे कम नहीं कर सकती, समय

इसे मिटा नहीं सकता । पाप के पंक में निमग्न या दुःख के समुद्र में झूँकते किसी भी मनुष्य को माता की प्रतिमा का ध्यान सम्बाल सकता है, बचा सकता है । वे अभागे कितने कृतज्ञ हैं जिन के धृणित कृत्यों को देख कर उन्हें गोद में खिलाने वाली जननी की आँखें उत्तराते हुए गर्म २ आँसुओं से एक बार भी डबडबा जाती हैं ! क्या उस माता के प्रेम को, उस के मोह को, किसी प्रकार भी छोड़ा जा सकता है ।

माता तो माता ही ठहरी, भाई भी कितने प्यारे होते हैं, वहिन का प्यार भी कितना मीठा होता है । यह प्रेम नहीं, अन्तरिक्ष से उतरी हुई पवित्रता की गंगा है जिस में भाई-भाई और भाई-वहिन एक दूसरे को गोते देते हैं, खेलते हैं और प्यार करते हैं । जितना ही इस प्रेम को बढ़ा कर विकसित किया जाय और विकसित करते २ उस ऊँची सतह तक पहुँचा दिया जाय जहाँ विश्व के अखिल प्राणी, परमात्मा के सब अमृत-पुत्र एक बड़े परिवार में समझे जाते हैं, उतना ही यह प्रेम अपने विशुद्ध रूप में प्रकट होता है, सार्थक होता है । यह प्रेम जिस के हृदय में है वह भाग्यशाली है और जिस के हृदय में नहीं है उसे इस की जड़ अभी से जमाने का दृढ़ संकल्प करना चाहिये क्योंकि इसी प्रेम के अभाव से आज हम जाति रूप से संसार की सम्य जातियों से पिछड़े हुए हैं और अपने को ज़बानी जमा-खर्च में आध्यात्मिक कंहते हैं परन्तु आध्यात्मिकता के उस प्रेम से, जो मनुष्यमात्र को एक परिवार का अंग बना देता है, कोरे हैं ।

पति-पत्नी का प्रेम भी मनुष्य को दी हुई ईश्वर की कृपाओं में से एक है। भगवान् के चलाए हुए नियमों से, वे दोनों, न जाने कहाँ-कहाँ पैदा हो कर और पल कर कहाँ आ मिले हैं। वे दोनों जीवन-मार्ग के पथिक हैं, आपस में एक दूसरे के सहारे हैं। आपस के दोषों को दूर करते हुए, कमियों को पूरते हुए जीवन-यात्रा को प्रेम-पूर्वक निभाना उन का कर्तव्य है। पति-पत्नी के प्रेम की कामना जब अत्यन्त उत्कट हो जाती है, वे पारस्परिक भिन्नता को मिटा कर दो से एक हो जाते हैं, तभी, दोनों के पवित्र आध्यात्मिक मिलन में, अखण्ड-ज्योति के भण्डार भगवान् के सुर्लिंगों का चौंधिया देनेवाला प्रकाश अन्धकार के आवरण को फाढ़ कर आत्मा को आलोकित कर देता है। यह प्रेम एक अमूल्य देन है।

प्रेम मित्रता के रूप में भी प्रकट होता है। समाज में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर हमारे हृदय में भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न होते हैं। किसी को देख कर धृणा, किसी को देख कर आकर्षण, किसी को देख कर ऐसा मानो जन्म जन्मान्तरों का परिचित अपने ही परिवार का अंग। यदि तुम्हारी मित्रता के आधार में वह प्रेम है जिसे एक आत्मा की दूसरे आत्मा के प्रति प्यास कहा जा सके, जिस के द्वारा तुम्हारे हृदय में ऊँची-ऊँची उमर्गें उठ खड़ी हों, जो तुम्हें धर्म-तथा सचाई के मार्ग पर कदम बढ़ाने के लिये प्रेरित कर सके और पाप तथा दुष्प्रवृत्ति के अन्धकार को भगाने के लिये प्रकाश की किरण बन-

सके, तो निस्सन्देह, तुम्हारा प्रेम एक मशाल है जो उस आग की चिनगारी से जलाई गई है जो प्रकाशस्तम्भ के रूप से खड़ी हुई तुम्हारे अन्तिम लद्ध्य की तरफ़ तुम्हें बुला रही है और ख्यं आगे बढ़ती हुई तुम्हें भी उसी तरफ़ ले जा रही है। और याची ! तू बढ़ा चल, इस प्रेम की न्योति को अपना आसरा बना कर आगे, वेखटके, बढ़ा चल—तूने जहाँ जाना है वहीं पहुँचेगा।

सिसरो का कथन है कि सच्ची मैत्री उन्हीं में हो सकती है जो सदाचार के परम पुनीत भावों से प्रेरित हो कर, आपस में एक-दूसरे की इज्ज़त को समझते हुए, एक-दूसरे की तरफ़ मुक्तते हैं। सदाचार से उस का अभिप्राय हवाई बातों से नहीं है। दुनियाँ में आदर्श पूर्ण-रूप से कहीं भी व्यट्टा हुआ दिखाई नहीं देता, परन्तु वह जहाँ तक आचरण में घट सकता है उतना जब तक न व्याया जाय तब तक, केवल बातों के आधार पर अपने को सदाचारी कहने का किसी को अधिकार नहीं है। सदाचारियों की मैत्री—श्र हा !— अस्ली मैत्री तो होती ही सदाचारियों में है। ‘पुण्य’ की सुन्दरता जिस ने देखी उस ने अस्ली, कभी न मिटने वाली, सुन्दरता देखी, क्योंकि इस के समान सुन्दर, इस के समान मोहने वाली वस्तु दुनियाँ में दूसरी नहीं। पवित्रता, सच्चाई, सादगी, इमान-दारी में ही तो सौन्दर्य है। राम और कृष्ण को किस ने देखा था ? परन्तु क्या, इतनी सदियों के बीत जाने पर भी, कोई हिन्दू हृदय है जो इन के नाम को सुनते ही प्रेम से भर नहीं जाता, अभिमान से फूल नहीं उठता ? इन की कथा को सुनते

जाते हैं और श्रीताओं की आँखों से प्रेम के अशु-विन्दु टपकते जाते हैं। उन की जीवन-कथाओं में विखरी हुई घटनाएँ कैसी प्यारी हैं, कैसी सुन्दर हैं! क्या यह प्रेम राम और कृष्ण की मूर्तियों से है? और, उन की मूर्तियों को किस ने देखा है। अस्ल में, सौन्दर्य का अवतरण 'पुरुष' तथा 'सदाचार' के देह में होता है!

प्रेमी-हृदय की गहराई न किसी ने नापी, न वह नापी गई। पवित्र प्रेम अपने प्रारम्भ के दिन से, जो वास्तव में इस का पिछले जन्म के घोड़े हुए सूत्र को इस जन्म में फिर से पकड़ने का दिन होता है, गहरा होने लगता है, और अनन्त-काल तक गहरा ही गहरा होता चला जाता है। इस में क्षणभर के लिये भी बनावट नहीं आ सकती क्योंकि जिस क्षण इस में बनावट ने प्रवेश किया उसी क्षण इस की पेंडी नज़र आने लगी। जिस भाव का उद्गम तुच्छता और ओछेपन में हो वह कब तक जिन्दा रह सकता है?

प्रेम एक खरा मोती है जिसे जौहरी पहचान लेता है— पर खोटे बनावटी मोतियों की भी तो यहाँ कमी नहीं। 'लोभ' को और 'काम' को 'प्रेम' का नाम देकर दुनियाँ को, और अपने को, धोखा देने वालों की कमी नहीं है। रुपये, समृद्धि और भाग्य को देख कर कई प्रेमी उत्पन्न हो जाते हैं। ऐ प्रेम के दीवाने! यदि तेरे प्रेमी तेरे भाग्य को देख कर प्रेम की माला जपते हैं तो ख़बरदार हो जा क्योंकि बुद्धिमानों का कथन है कि 'भाग्य' वेश्या के समान है— हृदय में प्रेम का लव-लेश

भी न होते हुए वह सभी प्रेमियों से आलिंगन करती है परन्तु सभी को दूसरे ही जण मुला देने के लिये तैयार रहती है ! उस की सत्ती मुस्कराहट पर अपने को मत लुटा क्योंकि इस की मुस्कराहट को त्योरियों में बदलते देर नहीं लगती । भाग्य वेश्या के भावों के समान नया-नया रूप बदल लेता है । यह ज्ञाणिक है ; साय ही अन्धा भी ! अपने अन्धेपन की छृत तो यह अपने शिकारों में भी फैला देता है । रुपये वाले प्रायः आँखें रखते हुए भी अन्धे होते हैं । और भाग्य के लाडले पुत्र ! आँखें खोल, तेरे घर का चिराग् टिमटिमा रहा है । ऐसे दोस्तों की खोज कर, जो तेरा उन कठिनाइयों और आपत्तियों में साथ दें, जो अभी तेरे सिर पर पहाड़ की तरह ढूटने वाली हैं । वे ही दोस्त तेरे अस्ती दोस्त होंगे । इस समय जो खुशामदी टट्ठू तुम्हे धेरे रहते हैं ये तेरे दुश्मन और तेरी दौलत के दोस्त हैं ।

शब्दों की क्या विडम्बना है ! ‘लोभी’ भी प्रेमी कहता है, ‘कामी’ भी अपने को प्रेमी कहना चाहता है । और वालक ! कहीं तेरा प्रेमी तेरे शारीरिक सौन्दर्य के कारण ही तो तुम्हे नहीं धेरे रहता ? क्या इस प्रेम का (?) उद्धव पाशाचिक मनोवृत्ति — शायद पैशाचिक मनोवृत्ति कहना अधिक उपयुक्त हो — तो नहीं ? क्या इस प्रेम के स्वांग के पीछे कोई पतित भाव तो काम नहीं कर रहा ? यदि ऐसा ही है, और अधिकांश में ऐसा ही होता है, तो अब तक जो कुछ कहा जा चुका है उस की एक-एक बात को गाँठ बाँध ले । ऐसी दोस्ती तुम दोनों को तवाह कर

देंगी। जब यह दोस्ती ख़त्म होगी—और जब तेरा सारा रस नूस लिया जायगा तो ख़त्म यह नज़्लर होगी—तब तुम में शर्म से चिगड़ी हुई अपनी सूरत को दर्पण में देखने की भी हिम्मत न रहेगी। यदि घृणित काम-वासना को 'प्रेम' का नाम देकर नवयुवकों का शिकार खेलने वाले कामी लोग संसार के पवित्रतम भाव की निडन्वना न कर रहे होते तो शायद 'दोस्ती' के सम्बन्ध में कुछ लिखने की आवश्यकता न पड़ती। सदाचार के द्वेष में 'माझी' शब्द का कुछ अर्थ नहीं, और जहाँ मैत्रीका प्रभ्र हो, वहाँ तो आचार शिथिलता के लिये किसी प्रकार की भी माझी नहीं दी जा सकती। ऐसी आचार-शिथिलता को, कामुकना को, 'प्रेम' के नाम से कहने का प्रयत्न करना भी ईश्वर की त्याइ के मव से पवित्र मनोभाव के साथ अन्याय और अत्याचार करना है।

अस्ती और बनावटी मित्रता में भेद करना सीधो। खुशामदी और कामी दोनों नाली के कीड़े हैं जो मैला खा कर जीते हैं—  
 उनसे प्रेम? उन्हें पास तक मत फटकने दो, दूर से ही दुर्कार दो। यदि एक बार भी टूटे गये तो पुण्य और सौन्दर्य के उच्च शिखिर से ऐसे लुढ़कोगे कि पाप और कष्ट के गढ़ में गिर कर नकना चूर हुए बिना न रहोगे। ऐसे धोखेबाज़ों से सावधान रहो और याद रखो कि जानी दुश्मन भी उतना ख़तरनाक नहीं होता जितना गंगा-जमनी दोस्त जो स्वार्य को लेकर दोस्ती करने चलता है।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व मैं एक बार फिर दोहरा देना चाहता हूँ कि 'प्रेम' की जो पवित्र देन परमात्मा ने प्रत्येक मानव-हृदय को दी है उसे सम्भाल कर रखना हरेक का फर्ज है। मैत्री के प्रेममय भावों को आध्यात्मिक जगत् में से निकाल देना, भौतिक जगत् में सूर्य को बुझा देने के समान होगा—दोनों का अपने २ जगत् में समान स्थान है और दोनों ही मानव समाज के लिये ज्योति के उद्गम-स्थान हैं। परन्तु फिर भी यह सदा, सर्वत्र, स्मरण रखना चाहिये कि सच्ची मैत्री केवल सदाचारियों में हुआ करती है, दुराचारियों में नहीं।

इसलिये, अरे प्रेम-पुष्प के माली ! पुराय के बीज को हृदय की उपजाऊ भूमि में बो दे। उस की जड़ों को ईमानदारी, सचाई, पवित्रता, सदाचार और इच्छुत का पानी देकर मनवूत कर। उस बीज को पनपने दे—प्रेम का पौधा लहलहा उठेगा। इस पोधे को बढ़ने दे, जल्दी मत कर—वसन्त के यौवन से इसे अलंकृत होने दे, इस पर भाँति-भाँति की, नन्ही-नन्ही, देव-नन की कलियाँ लगने दे। इन कलियों को भी बढ़ने दे—बढ़ने दे, और खिलने दे, ताकि गुलाबी फूलों की तरह वे मैत्री के पूर्ण-विकास से खिल पड़ें। परन्तु ऐ युवक ! खिलती हुई कलियों को तोड़ने के लिये हाथ मत बढ़ा क्योंकि पौधे का तना लज्जा, सन्देह और भय के काँटों से घिरा हुआ है। प्रेम की खिलती हुई कलियों को तने-तने पर हिल २ कर हवा के झोंकों में झूमने दे—जिस बीज को तू बना नहीं सकता उसे बिगाढ़ने की हिमाकत मत कर !

## तृतीय अध्याय

### जनन-प्रक्रिया

**जीवन** की सब क्रियाओं को मोटी तौर पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है:— शरीर-पोषण और प्रजनन। शरीर-पोषण एक स्वार्थमयी क्रिया है। खा-पीकर वैय्यक्तिक उच्चति करने से ही जीवन-शक्ति बनी रह सकती है। जहाँ यह जीवन है वहाँ यह स्वार्थ पाया ही जाता है। सुदूरवर्ती जंगल के एक कोने में खड़ा हुआ पौधा, हवा से, जल से, पृथिवी से, अपने जीवन के लिये आवश्यक प्राण-शक्ति को खींच लेता है। दिन प्रतिदिन उस में हरी-हरी कोंपले लगती हैं, शाक्त्रां फूटती हैं। वह बढ़ता हुआ, बृक्ष बनता चला जाता है। प्रातः काल पक्षी अपने घोंसलों से निकलते हैं, आस्मान पार करते हुए मीलों दूर पहुँच जाते हैं। साँक को लौट आते हैं और अगले दिन फिर दाने की हूँड में निकलने की तैयारी करने लगते हैं। इसी चक्र में उन की आयु बीत जाती है। जँगल के जानवर हरी धास और ताजे पानी की खोज में निकल पड़ते हैं। जहाँ उन्हें धास के खेत और पानी के तालाब मिल जाते हैं वहीं वे अपना बसेरा कर लेते हैं। मनुष्य भी, बचपन से लेकर बुढ़ापे तक, रोटी और कपड़े के जटिल प्रश्न को हल करने में ही पसीना बहाता है। इस प्रकार पौधे, पक्षी, पशु तथा मनुष्य

अपनी वैद्यकिक सत्ता को मिटाने से बचाने के लिये भरमक जद्गोजहद करते हैं।

परन्तु यह कश्मकश कव तक चल सकती है? आखिर, मरना हरेक को है। वैद्यकिक जीवन तभी तक है जब तक जीवित-प्राणी जीवन की परिवर्तनशील भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर सकता है। जब तक जीवन का पूर्ण-विकास नहीं हो जाता तब तक व्यक्ति को जीवित रहने के लिये, अपने शारीरिक-पोषण के लिये, उन अवस्थाओं से लड़ना पड़ता है जो जीवन की सतत-धारा को रोकने वाली हों, उसे सुखाने वाली हों। परन्तु यह स्थिति भी कव तक रह सकती है? आखिर, समय आता है जब चारों तरफ की परिस्थिति के साथ जीवित-सम्बन्ध स्थापित कर सकना असम्भव हो जाता है, मनुष्य वृद्धा हो जाता है। परिस्थिति से सम्बन्ध के रहने का नाम ही जीवन और उस के दूटने का नाम ही मृत्यु है। ऐसी अवस्था में शारीर-पोषण की स्वार्यमयी क्रिया समाप्त हो जाती है। यदि मनुष्य का यही अन्त होता तो वह अत्यन्त दुःखमय होता, परन्तु ऐसा नहीं है, परमात्मा ने बुझते हुए दीपक की ज्योति को पूर्णरूप से सुरक्षित रखने का भी उपाय कर दिया है। उस ने एक ऐसा तरीका निकाला है जिस से एक बार उत्तर हुआ जीवन अनन्तकाल तक बना रह सकता है।

‘शारीर-पोषण’ के बाद ‘जनन-प्रक्रिया’ मनुष्य की सहायता को आ पहुँचती है। इस के द्वारा वह वैद्यकिक जीवन के नष्ट हो

जाने पर भी उसे जाति के शरीर में जीता-जागता बना देता है। जब पौधे की वानस्पतिक वृद्धि रुक जाती है तो उस में संचरण करनेवाला वही प्राण—रस्य, सुगन्धित पुष्पों के रूप में फूट निकलता है। उन फूलों से सजातीय वृक्ष उत्पन्न करने वाले सहस्रों बीज तैयार हो जाते हैं। हवा के झोंके से उखड़ता हुआ एक पौधा अपने जैसे अनेकों की नींव रख जाता है। युवावस्था में, ऋतुकाल में, सब प्राणी अपने जैसे बच्चे पैदा कर जाते हैं और उन बच्चों में ही वे प्राणी एक प्रकार से अमर हो जाते हैं। मनुष्य भी मृत्यु के सैंकड़ों और सहस्रों वर्ष उपरान्त, अपने बच्चों में, पोतों-पड़पोतों में, बार-बार पैदा होता है और अपने कीण हुए यौवन को भी शाश्वत बना लेता है। इस प्रकार, जीवन से उत्कट वैर रखनेवाली मृत्यु का पराजय होता है और जीवन की धारा अखण्डित रूप से प्रवाहित रहती है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, ‘शरीर-पोषण’ जीवन की स्वार्थमयी क्रिया है, परन्तु ‘प्रजनन’ स्वार्थहीन क्रिया है। इस का उद्देश्य युवावस्था में, जिस आयु में शरीर-पोषण ज्यादह नहीं हो सकता, शरीर-पोषण करने वाले तत्व से सन्तानोत्पत्ति करना है। जिस प्रकार पौधे की वानस्पतिक वृद्धि हो चुकने पर फूल खिलते हैं, इसी प्रकार जितना ‘शरीर-पोषण’ हो सकता है उस के हो चुकने पर ‘प्रजनन’ की वारी आती है। उससे पूर्व यह अस्वाभाविक है। ‘शरीर-पोषण’ का अवश्यम्भावी परिणाम ‘प्रजनन’ होना चाहिये, ‘शरीर-पोषण’ के समाप्त होने पर ‘प्रजनन’ शुरू होना चाहिये,

उस से पूर्व शुरू हो जाने पर वह 'शरीर-पोषण' के खर्च पर होगा, उस में रुकावट डाल कर होगा। जनन-प्रक्रिया का उपयोग सिर्फ़ सन्तति पैदा करने के लिये करना चाहिये और वह भी तब जब कि पुरुष की आयु २५ तथा खींकी १६ वर्ष की हो क्योंकि इस आयु में पहुँच कर ही दोनों का पूर्ण विकास होता है। जिस भगवान् ने मनुष्य को 'जनन-शक्ति' दी है उस की यही आज्ञा है। पौधों और पशु-पक्षियों में इस आज्ञा का अवशरणः पालन होता है परन्तु विकार है मनुष्य को जो सम्भवा और विकास की ढींग हाँकता हुआ नहीं यकता परन्तु पवित्र जनन-शक्ति का दुरुपयोग कर के अपने को देवताओं के उच्च आसन से गिरा कर पिशाच बना लेता है और फिर जब समय हाय से निकल जाता है, भयंकर कुकूल्यों के डरावने परिणाम आँखों के सन्मुख नाचने लगते हैं, तो सिर धुन २ कर रोता है।

जीवन का उद्भव बड़ा रहस्य मय है। सर विलियम थौमसन का विचार था कि इस पृथिवी पर जीवन किसी प्रोटोमाइम अन्य नक्त्र से आ गिरा है। डार्विन का सिद्धान्त है कि वनस्पतियों तथा प्राणियों की उत्पत्ति किसी एक ही मूल-नक्त्र से हुई है। हर्बर्ट स्पेन्सर, हक्सले तथा टिन्डल ने कहा कि चेतनता की उत्पत्ति जड़ से स्वयं हो गई, परन्तु उन्होंने साथ ही यह भी स्वीकार कर लिया कि उन के सिद्धान्त की पुष्टि के लिये उन के पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण न था। जीवन का उद्भव स्थिति के प्रारम्भ में कैसे हुआ इस प्रश्न पर अब तक

कोई निश्चित सम्मति नहीं दी जा सकी। हाँ, उद्घव के बाद, जीवन की वृद्धि के प्रश्न को विज्ञान ने खूब हल किया हुआ है। वैज्ञानिकों का कथन है कि वानस्पतिक तथा जान्तविक जगत् का एक मात्र मूल आधार 'प्रोटोप्लाज्म' है जिसे केवल सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र की सहायता से देखा जा सकता है। जीवन का मूलभूत यह प्रोटोप्लाज्म—कललरस— क्या है? प्रोटोप्लाज्म एक पारदर्शक पदार्थ है। यह लसलसा, आधा द्रव और आधा ठोस होता है। इस के सब हिस्से एक ही तत्व से बने होते हैं; यह अखण्ड-एकरस होता है। इस में स्वाभाविक गति होती रहती है। यह गति अनियमित होती है, घड़ी-घड़ी बदलती रहती है और 'अमीवा' की गतियों के सदृश होती है। 'प्रोटोप्लाज्म' के भीतर हर समय दो क्रियाएँ होती रहती हैं। एक क्रिया से वह जीवन-रहित पदार्थ को अपने अन्दर लेकर जीवन का अंग बना देता है, दूसरी क्रिया से जीवन के अंगीभूत पदार्थ को भीतर से निकाल कर जीवन-रहित बना देता है। यही क्रिया 'जीवन' का प्रारम्भ है।

वानस्पतिक जगत् में जीवन-शक्ति का सर्वतः प्रथम विकास

अमीवा

'बैक्टीरिया' में होता है; प्राणि-जगत् में वही 'अमीवा' में होता है। जीवन की इन दोनों इकाइयों का मूलतत्व 'प्रोटोप्लाज्म' ही होता है। अर्थात्, प्रोटोप्लाज्म, जो जीवन का मूलभूत भौतिक तत्व है, जब वनस्पति जगत् का प्रारम्भ करता है उस समय इस का नाम 'बैक्टीरिया' होता है, और जब यह प्राणि-जगत् का प्रारम्भ करता है तब

इस का नाम 'अमीवा' होता है। 'वैकटीरिया' तथा 'अमीवा' दोनों प्रोटोप्लाज्म के ही रूपान्तर हैं और क्रमशः स्थावर तथा जंगम जगत् के प्रारम्भिक रूप हैं। किसी शान्त तालाव के अन्दर से कीचड़ को लेकर सूद्धम-वीक्षण यन्त्र के नीचे रख कर देखें तो पता लगेगा कि वह छोटे-छोटे गोल-गोल प्रोटोप्लाज्म के कीटाणुओं से बना हुआ है। सूद्धम निरीक्षण से पता चलेगा कि ये प्रोटोप्लाज्म से बने हुए पदार्थ जीवित प्राणी हैं—वे हिलते हैं, बढ़ते हैं और भिन्न-भिन्न आकृतियाँ धारण करते हैं। इन्हीं कीटाणुओं को 'अमीवा' कहते हैं। अमीवा की चेष्टाएँ अत्यन्त विवित होती हैं। इसका एक हिस्सा बढ़ कर मुख बन जाता है, फिर वही आमाशय या टाँगों का काम भी करने लगता है। इस कीटाणु के शरीर का कोई अंग निश्चित नहीं होता। अपने शरीर के जिस हिस्से से वह जो कोई भी काम लेना चाहे उसका सकता है।

'अमीवा' के शरीर में एक छोटी गांठ-सी होती है जिसे 'न्यूक्लियस' कहते हैं। यह 'अमीवा' के 'प्रोटो-प्लाज्म' के भीतर ठहरी हुई नज़र आती है। यह जनन-प्रक्रिया में बड़ी आवश्यक है। 'न्यूक्लियस' की गांठ सहित 'अमीवा' के प्रोटोप्लाज्म को अंग्रेजी में 'न्यूक्लियेटेड प्रोटोप्लाज्म' कहते हैं। 'न्यूक्लियस' अर्थात् गांठ वाले प्रोटोप्लाज्म को चुद्र-वीक्षण के नीचे रख कर देखने से अनेक नई वातें मालूम होती हैं। कुछ देर के बाद जब 'अमीवा' निश्चल हो जाता है उस के 'न्यूक्लियस' में

कुछ आवश्यक परिवर्तन होने प्रारम्भ होते हैं। 'न्यूक्लियस' के बीच में सेदो टुकड़े हो जाते हैं और प्रत्येक टुकड़े के साथ आधा-आधा प्रोटोहाइम भी चला जाता है। वह उस टुकड़े को धेर लेता है और एक के ही दो भाग हो कर दो स्वतन्त्र 'अमीवा' तय्यार हो जाते हैं। इस प्रकार एक 'अमीवा' के दो 'अमीवा' बन जाते हैं। इन में से प्रत्येक के फिर दो भाग होकर चार 'अमीवा' बन जाते हैं। इस प्रकार जनक-अमीवा अपने व्यक्तित्व को नष्ट कर के अपने ही शरीर को पहले दो, फिर चार, फिर आठ आदि भागों में विभक्त कर अपनी जाति की भावी सन्तति को जन्म देता है।

जिस प्रकार हम ने अभी देखा कि 'अमीवा' बीच की गाँठ में से टूट कर दो भागों में बँटता, और वे दो भाग कोष्ठ-विभजन टूट कर चार भागों में, और इसी प्रकार वे भी आगे-ही-आगे टूट कर अनेक भागों में विभक्त होते जाते हैं, इसी प्रकार 'अमीवा' से ऊँचे प्राणियों में भी शरीर की रचना का, 'न्यूक्लियस-युक्त प्रोटोहाइम' से ही, जिसे अंग्रेजी में 'सेल' या हिन्दी में 'कोष्ठ' कहते हैं, प्रारम्भ होता है। उच्च प्राणियों के शरीर के उत्पन्न होने में भी वही प्रक्रिया होती है जो 'अमीवा' में पायी जाती है, भेद के बावजूद इतना है कि 'अमीवा' का 'न्यूक्लियस' तो दो स्वतन्त्र भागों में विभक्त हो कर अपनी सत्ता विलकुल मिटा देता है परन्तु ऊँची जाति के प्राणियों में, जिन में मनुष्य भी शामिल है, प्रोटोहाइम का बहुत थोड़ा-सा हिस्सा पृथक् हो कर 'अण्डा' या 'बीज' बनता है और उन अण्डों या बीजों को

उत्पन्न करनेवाला प्राणी उसी प्रकार के दूसरे अण्डों और बीजों को समय-समय पर उत्पन्न करता रहता है और 'अमीवा' की तरह अपनी भौतिक सत्ता को मिटा नहीं देता, किन्तु जीवित बनाये रखता है। जिस काम के लिये 'अमीवा'-जैसे निम्न-श्रेणी के प्राणी को अपने सारे शरीर के दो हिस्से कर देने पड़ते हैं उसी काम के लिये उच्च-श्रेणी के प्राणियों के शरीर का एक बहुत छोटा-सा हिस्सा पर्याप्त होता है।

यह छोटा-सा हिस्सा ही पुरुष में वीर्य-कीट तथा स्त्री में रजःकण के रूप में पाया जाता है। 'वीर्य-कीट' को अंग्रेजी में 'स्पैमेंटोज़ोआ' कहते हैं— यह 'उत्पादक-वीर्य' है। स्त्री के 'रजःकण' को अंग्रेजी में 'ओवम' कहते हैं। 'स्पैमेंटोज़ोआ' तथा 'ओवम' दोनों ही 'न्यूक्लियस-युक्त प्रोटोप्लाज्म' के पिण्ड के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। ऊँची जातियों के प्राणियों में जब 'वीर्य-कीट' अथवा 'स्पैमेंटोज़ोआ' 'रजःकण' अथवा 'ओवम' के साथ मिल जाता है तब 'ओवम' ( स्त्री का बीज ) दो, चार, आठ, सोलह, बत्तीस, चौंसठ, और इसी प्रकार ऐसे ही छोटे-छोटे कोष्ठों में टूट-टूट कर विभक्त होता जाता है और बढ़ता जाता है। यह वृद्धि 'अमीवा' के समान नहीं होती। यहाँ कोष्ठों के टुकड़े बिल्कुल अलग नहीं हो जाते। कोष्ठों की वृद्धि होती जाती है, परन्तु सब कोष्ठ मिले रहते हैं। उच्च-प्राणियों में ऐसा ही होता है। जब इन कोष्ठों का मिल कर एक छोटा-सा पिण्ड बन जाता है, उस में तन्तु, मांस-पेशियाँ, आस्थियाँ बन

जाती हैं तब वह माता के पेट से निकल कर स्वतन्त्र रूप से जीने लगता है। उस से पूर्व तो वह माता के शरीर का ही हिस्सा रहता है। प्राणियों के शरीर की इसी प्रकार वृद्धि होती है और इसे 'विभजन-द्वारा-वृद्धि' ( सैगमन्टेशन, मलटीस्ट्रिकेशन, वाई डिवीयन ) या 'कोष्ठ-कल्पना' ( सेल-थियोरी ) कहते हैं।

शरीर के अनेक अवयव केवल इन कोष्ठों से ही बने होते हैं। जिगर उन में से एक है। 'कोष्ठ' ही तन्तुओं के रूप में पट्टों, मांस-पेशियों तथा ज्ञान-वाहिनी-नाड़ियों की रचना करते हैं। हड्डी तथा ढाँत जैसी मज़बूत तथा सख्त चीज़ें भी मौलिक रूप में कोष्ठों से ही बनती हैं। इसलिये कोष्ठ ( सेल ) प्राणिमात्र के शरीर की रचना करने वाली इकाई हैं। कोष्ठों के आपस में मिलने, संयुक्त होने तथा परिवर्तित होने से ही शरीर का निर्माण होता है।

**कोष्ठ-विभजन** ( प्रोटोप्लाज्म तथा न्यूक्लियस के दो २ टुकड़े )

**लिङ्ग-भेद** होने से पहले, एक और आवश्यक प्रक्रिया होती है जिसका हमने अभी तक वर्णन नहीं किया। तालाब की काई को सूक्ष्म-वीक्षण-यंत्र द्वारा देखने से ज्ञात होता है कि वह कुछ जीवाणुओं से बनी हुई है। इन्हें 'एलनी' कहते हैं। उस काई में 'न्यूक्लियस-गर्भित-प्रोटोप्लाज्म' की आमने-सामने दो-दो पंक्तियाँ बन जाती हैं। प्रत्येक पंक्ति के कोष्ठ अपने सामने के कोष्ठों से मिल जाते हैं और दोनों के मिलने से एक नवीन कोष्ठ बन जाता है। इस प्रक्रिया में एक कोष्ठ को दूसरे कोष्ठ

की तरफ़ जाते हुए हम सूक्ष्म-वीक्षण-यंत्र द्वारा देख सकते हैं। इन कोष्ठों को, जो कि दो भिन्न २ पंक्तियों में होते हैं, 'नर' और 'मादा' कहते हैं। इन कोष्ठों के परस्पर संयुक्त होने की प्रक्रिया को 'संयोग' (कौञ्जुगेशन) कहते हैं। यदि कोष्ठों का यह संयोग न हो तो 'ऐलजी' में एक से अनेक होने की जो प्रक्रिया पायी जाती है वह भी न हो। कोष्ठों का यह पारस्परिक संयोग सृष्टचृत्पत्ति का एक आवश्यक सिद्धान्त है।

इसलिये 'जनन' दो विभिन्न-तत्वों के 'संयोग' का फल है। इन्हीं विभिन्न-तत्वों को प्रचलित भाषा में 'पुरुष' तथा 'खी' कहा जाता है। यद्यपि कभी २ तत्वों की विभिन्नता, अर्थात् विजातीयता, का ज्ञान सूक्ष्म-वीक्षण-यंत्र से भी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता तथापि उन के विविध कार्यों को देख कर निश्चय कर सकते हैं कि वे भिन्न २ तत्व वा लिंग के प्राणी हैं। दोनों ही, एक नवीन प्राणी की उत्पत्ति के लिये, 'पुरुषतत्व' तथा 'खीतत्व' इन विभिन्न-तत्वों को उत्पन्न करते हैं और इन विभिन्न-तत्वों के सम्मिलन से ही एक नवीन प्राणी की सृष्टि होती है। प्रजनन के लिये आवश्यक इन दोनों तत्वों को उत्पन्न करने वाली इन्द्रियों को 'जननेन्द्रिय' शब्द से कहा जाता है। प्रजनन के आधार-भूत सिद्धान्त सम्पूर्ण-विश्व में एक से हैं। इसलिये 'जनन-प्रक्रिया' को और अधिक समझने के लिये हम क्रमशः पौधों, छोटे प्राणियों, बड़े प्राणियों तथा मनुष्यों में इन नियमों को देख कर इस प्रक्रिया को समझाने का प्रयत्न करेंगे।

### पौधे

‘फूल’ पौधों की जनन-सम्बन्धी इनिद्रियाँ हैं। कुछ फूल ‘नर’-तत्व को उत्पन्न करते हैं और कुछ ‘मादा’-तत्व को। कई बार एक ही फूल में दोनों तत्व मिले रहते हैं। फूलों के नर-भाग को अंग्रेज़ी में ‘स्टेमन’ तथा मादा-भाग को ‘पिस्टिल’ कहते हैं। नर-भाग ( स्टेमन ) में एक प्रकार की सूखम, शुद्ध धूली होती है जिसे पुँ-केसर ( पौलन ) कहते हैं। यही फूल का जनन-सम्बन्धी नर-तत्व है। मादा-भाग ( पिस्टिल ) फूल के मध्य में स्थित होता है और वहीं पर फूल का जनन-सम्बन्धी मादा-तत्व ( ओव्यूल ) रहता है। यदि नर तथा मादा तत्व एक ही फूल के भीतर हों तो वहीं ‘बीज’ की सृष्टि हो जाती है परन्तु यदि ये दोनों तत्व भिन्न २ पौधों पर स्थित हों तो नर-पुष्प के पुँ-केसर को वायु उड़ा कर निकटस्थ मादा-पुष्प के भीतर पहुँचा देती है। इस विधि से कई अवस्थाओं में नर तथा मादा जाति के पुष्पों के बहुत दूर स्थित होने पर भी ‘संयोग’ हो जाता है। मधु-मक्खियाँ, पतंग आदि अपने पंखों और पाँवों द्वारा उत्पादक-धूलि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर जनन-प्रक्रिया में बड़ी सहायता पहुँचाते हैं। छोटी चिड़ियाँ और बेचारा ‘स्नेल’ इस दृष्टि से बड़े काम के हैं। पौधों की जनन-प्रक्रिया में भाग लेने वाले कई कीट, पतंगों का इतना महत्व है कि कविता की भाषा में उन्हें ‘फूलों के विवाह का पुरोहित’ कहा गया है।

## छोटे-प्राणी

कुछ छोटे प्राणियों में जिन विधियों द्वारा 'संयोग' अथवा 'जनन-प्रक्रिया' होती है वे पौधों की अपेक्षा मछली विभिन्न, अनेक तथा अधिक आश्चर्य-जनक हैं। उदाहरणार्थ, मछलियों तथा साँपों में, माता-पिता के शरीर से, उन के आपस में मिले बिना ही, नर तथा मादा तत्व निकल आते हैं और उन तत्वों का माता-पिता के शरीर के बाहर ही संयोग हो जाता है। इस अवस्था में एक का दूसरे से स्पर्श विलक्ष्ण नहीं होता। प्राणियों की इस श्रेणी में जनन-प्रक्रिया ठीक वैसी ही होती है जैसी उन पौधों में जिन में नर तथा मादा पुष्प एक ही पौधे के भिन्न २ भागों में स्थित होते हैं। मादा-मछली के शरीर में बहुत से अरडे खास मौसम में पैदा हो जाते हैं। कई बार इन की संख्या हजारों तक होती है। इसी समय नर-मछली के अरडकोष, जो कि उस के शरीर में ( कोष्टगुहा=एबडोमिनल कैविटी में ) विद्यमान होते हैं, बढ़ने लगते हैं। इन्हीं अरडकोषों में वीर्य-कण होते हैं। जब मादा अपने अरडों को सुरक्षित रखने के लिये जगह हूँढ़ती है तो नर चुपचाप उस के ही पीछे हो लेता है और ज्योंही वह अरडों को देती है त्योंही वह उन पर वीर्य-कण डाल देता है। इसी से संयोग हो जाता है और नई मछलियों का जीवन प्रारम्भ हो जाता है। उत्तरी समुद्र का जल कई स्थानों पर मछली के अरडों से गढ़ा हो जाता है।

यह प्रक्रिया मेंडक की कई जातियों में ज्यों-की-ज्यों मिलती है।

**मेंडक**      जिस समय मादा अपने श्रगडे सुरक्षित रखने वाली होती है, नर उस की पीठ पर चढ़ जाता है और तब तक चढ़ा रहता है जब तक कि सब श्रगडे सुरक्षित तौर पर रख नहीं दिये जाते। मादा द्वारा श्रगडों के रखे जाते ही नर उन पर वीर्य-कण डाल देता है। इस प्रकार नर तथा मादा दोनों के उत्पादक-तत्वों के संयोग से जनन प्रारम्भ होता है। मादा को श्रगडे रखने में काफ़ी समय लगता है। तब तक नर उस की पीठ पर चढ़ा ही रहता है। इस समय उस के पाँवों में अनीब ढँग के अंगूठे-से निकल आते हैं जिन से वह मादा की पीठ पर चिपटा रहता है। ये अंगूठे इसी समय निकलते हैं। बच्चा पैदा करने की मौसम के समाप्त हो जाने पर ये क्षणिक अंगूठे लुप्त हो जाते हैं क्योंकि फिर इन की कोई आवश्यकता नहीं रहती। ये दोनों उदाहरण 'अन्तःसंयोग' के हैं—इन में नर तथा मादा तत्वों का संयोग मादा के शरीर के बाहर होता है।

कुछ जातियों में, जिन में 'अन्तःसंयोग' होता है, नर और मादा एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते परन्तु फिर भी कई अज्ञात कारणों से नर का वीर्य-कण मादा के शरीर में पहुँच जाता है और वहाँ पर नर-तत्व के संयोग से श्रगडा बढ़ने लगता है। इस प्रकार की जनन-प्रक्रिया में नर तथा मादा का शारीरिक संयोग नहीं होता। संस्कृत-साहित्य में बादल के गर्जने से बगुली के गर्भ हो जाने का वर्णन पाया जाता है।

साँपों में नर तथा मादा की जननेन्द्रियों के पारस्परिक स्पर्श स्नेल से संयोग हो जाता है। स्नेल उभय-लिंगी प्राणी है, अर्थात् एक ही स्नेल नर और मादा दोनों एक साथ होता है। इस में नर और मादा का संयोग बड़ी विचित्र रीति से होता है। टी० आर० जोन्स ने इस का निम्न प्रकार वर्णन किया है:—

“इन में जिस विधि से संयोग होता है वह कुछ कम आश्वर्य-जनक नहीं है। इस संयोग का प्रारम्भ असाधारण रीति से होता है। देखने वाला समझता है कि यह दो प्रेमियों का मिलाप नहीं परन्तु शत्रुओं की लड़ाई है। यह प्राणी ख्याल से शान्त प्रकृति का है, परन्तु संयोग के समय दोनों में अजीब फुर्ती आ जाती है। शुरू २ में प्रगाढ़ आलिंगन होता है, फिर दोनों में से एक अपनी ग्रीवा के दाईं ओर से एक चौड़ी और छोटी-सी थैली को खोलता है। यह थैली तन कर कठार जैसी हो जाती है और गले के साथ ऐसी लगी होती है मानो दीवार के साथ चिपकी हुई हो। इस अजीब हथियार से दूसरे प्रेमी के असुरक्षित भाग पर प्रहार किया जाता है। वह भी जल्दी-से अपने खोल में बुस कर इस आघात से बचने की पूरी कोशिश करता है। परन्तु अन्त में किसी खुले स्थान पर चोट लग ही जाती है और उस के लगते ही इस प्रेम-प्रहार का बदला लेने के लिये आहत-स्नेल उद्घाग्न हो उठता है और अपने प्रतिद्वन्दी को चोट पहुँचाने में कुछ उठा नहीं रखता। इस प्रेम-कलह में उन की कठारों पर लगे छोटे २ कॉटे प्रायः

दूट कर ज़मीन पर गिर पड़ते हैं अथवा उन के ज़ख्मों पर चिपक जाते हैं। इस प्रारम्भिक उत्तेजना के कुछ देर बाद दोनों स्नेल चेतन हो कर अधिक प्रबलता से लड़ने के लिये आगे बढ़ते हैं। अब वह कठार संकुचित हो कर शरीर में आ जाती है और एक दूसरी छोटी थैली दोनों के उत्पादक-छिद्रों में से निकल कर आगे को बढ़ जाती है। यह स्नेल की जननेन्द्रिय है, और इस पर दो छिद्र दिखाई देते हैं। क्योंकि स्नेल उभय-लिंगी है—अर्थात् नर तथा मादा दोनों है—इसलिये इन दोनों छिद्रों में से एक तो स्नेल का मादा होने का छिद्र है और दूसरा नर होने का। इस दूसरे छिद्र में से दोनों की एक इन्च लम्बी चाबुक-जैसी नर-इन्द्रिय धीरे २ खुलती है। तब दोनों स्नेल परस्पर संयोग करते हैं और दोनों के, एक दूसरे से, गर्भ ठहर जाता है।”

ओयस्टर भी उभय-लिंगी प्राणी है, उसमें भी आत्म-संयोग हो

जाता है। आरगोनट एक प्रकार की मछली होती आरगोनट है। इस में संयोग बहुत ही विचित्र रूप से होता है। नर के शरीर के बाएँ हिस्से पर एक छोटी-सी थैली होती है जिस में एक कुएडलीदार उपकरण रहता है। यह उपकरण वस्तुतः एक नलिका होती है जिस का सम्बन्ध अराडकोषों से होता है। इस नलिका में वीर्य-कण संचित रहते हैं। पूर्ण वृद्धि होने पर वीर्य-कणों से भरी हुई यह थैली आरगोनट के शरीर से जुदा हो जाती है, जल में तैरती २ मादा को हूँड लेती है और उस के साथ संयोग से मादा के बच्चे पैदा होने लगते हैं।

एक विशेष प्रकार की मक्खी पायी गई है जो लाश की सड़ांद की गन्ध से अरडे देने लगती है। यदि इस मक्खी के गन्ध लेने वाले ज्ञान-तन्तु काट दिये जायँ तो वह अरडे देना बन्द कर देती है। नाक पर आप्तात लगने के अलावा उसे दूसरे स्थानों पर कितनी बड़ी भी चोट क्यों न लगे, वह अरडे देना बन्द नहीं करती। जननेन्द्रिय के साथ द्राण के सम्बन्ध का यह अद्भुत् उदाहरण है।

कभी २ मधु-मक्खी, नर के साथ संयोग किये बिना ही, अरडे देने लगती है और उन अरडों से हमेशा नर-मक्खी पैदा होती है। नर के साथ संयोग के बाद वह छत्ते के कोण्ठों में अरडे देती है और उन अरडों से हमेशा मादा-मक्खी पैदा होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस में अपनी इच्छा के अनुसार, बिना संयोग के, अरडे पैदा करने की शक्ति है जिस से नर-मक्खियाँ पैदा होती हैं। मधु-मक्खियाँ, बड़ी मेहनत से, सैंकड़ों नर-मक्खियों को एक रानी-मक्खी के सुख के लिये पालती हैं। जब मधु-मक्खियाँ की 'रानी' संयोग के लिये आकाश में उड़ती है तो नर-मक्खियाँ उस के पीछे हो लेती हैं। जब एक नर-मक्खी का रानी-मक्खी से संयोग हो जाता है तब वह अपनी जननेन्द्रिय को उस के शरीर में छोड़ कर मर जाता है। अन्य नर-मक्खियाँ अब किसी काम की नहीं रहतीं अतः पतझड़ में शक्तिशाली मक्खियाँ उन का संहार कर देती हैं। . . . :

तितली का जनन-सम्बन्धी जीवन भी अनोखा है। यह कुछ महीनों तक रोमावृत अवस्था में रहती है—फिर, तितली साल, दो साल तक चमकते हुए कीट की अवस्था धारण करती है। इस के पीछे दीवार की दराड़ में या पेड़ की छाल के नीचे, रेशम के कीड़े के घर की तरह, एक खोल बना कर सोई रहती है। अन्त में शानदार, रंग-बिरंगे परों का शृंगार कर टहनी से टहनी पर बैंडराने लगती है। इसे भोजन की भी आवश्यकता नहीं होती। मादा वड़ी शान्त होती है, चुपचाप पड़ी रहती है। नर की प्राण-शक्ति इतनी तीव्र होती है कि उसे कई मीलों से मादा की गन्ध आ जाती है और ज्योंही वह उड़ने योग्य हो जाता है फौरन खेतों और जंगलों को पार करता हुआ अपनी प्रिया के पास जा पहुँचता है। प्रणय के प्रयम मिलन में ही वह अभागा इस संसार से चल बसता है। इस के बाद मादा भी अनगिनत अरणे जन कर तत्क्षण अपने प्रीतम के पास उस लोक में पहुँच जाती है। यह प्रेम की कैसी कल्पना कहानी है !

प्रकृतिवादी फेवर महोदय ने चींटियों के जनन-सम्बन्धी चींटी जीवन के विषय में अनेक आश्वर्य-जनक बातें पता लगाई हैं। उन का कथन है कि कई चींटियाँ ऐसी होती हैं जिन में मादा संयोग के लिये उड़ती है। अनंक नर-चींटे उड़-उड़ कर उस का आलिंगन करते हैं और उस के पीछे ही वं मर जाते हैं। इस प्रकार मादा के पास वीर्य-कणों की एक धरोहर दो जाती है जिस में विविध नरों के वीर्य-कण सुरक्षित

रखे रहते हैं। इस के बाद वह कई साल तक, कम-से-कम ११ वा १२ साल तक, बिना किसी नर के संयोग के अरणे पैदा कर सकती है। वस्तुतः, यह वडे अचम्भे की बात है कि इतने समय तक वीर्य-कण पूर्ण रूप से सुरक्षित पड़े रह सकते हैं।

### वडे प्राणी और मनुष्य

वडे प्राणियों में नर तथा मादा के उत्पादक-तत्वों के मिलने से जीवन उत्पन्न होता है। इस क्रिया के लिये कुछ सहायक तथा आवश्यक इन्द्रियाँ भी परमात्मा ने बनाई हैं—नर में ‘शिश्न’ तथा मादा में ‘योनि’।

प्रत्येक जाति में—आदमी, बोड़ा, बकरी, सभी में—नर तथा मादा के जनन-सम्बन्धी गुह्य-अंग एक दूसरे को दृष्टि में रख कर ही बनाये गये हैं। प्रत्येक जाति के नर तथा मादा के गुह्य-अंगों में एक आश्र्य-जनक पारस्परिक अनुकूलता पाई जाती है। यह प्रकृति का बड़ा भागी चमत्कार है। यह आवश्यक आयोजन अपनी जाति को हमेशा बनाये रखने का जहाँ शक्तिशाली उपाय है वहाँ दो विभिन्न जातियों के मिलने के मार्ग में रुकावट भी है।

नर तथा मादा की जननेन्द्रियों के मेल को ‘संयोग’ कहते हैं। संयोग ही जनन-प्रक्रिया है। जनन-प्रक्रिया में वीर्य-कण रजःकण से सिर्फ़ मिल ही नहीं जाता परन्तु रजःकण की पतली-सी भिल्ली को चीर कर अन्दर दूस जाता है और उस के अन्दर के द्रव्य से मिल जाता है। फिर रजःकण की वृद्धि होने लगती है

और उस का क्रम वही होता है जिस का वर्णन 'कोष्ठ-विभजन' की किंया में पहले किया जा चुका है। कई मछलियों के रजःकणों में छोटे-बड़े छिद्र देखे गये हैं जिन के द्वारा वीर्य-कण को उन के अन्दर प्रविष्ट होने का मार्ग मिल जाता है। वीर्य-कण की एक लच्ची-सी पूँछ होती है, उस की सहायता से वह रजःकण को हूँढ़ता हुआ योनि में गति करता है। रजःकण की पृष्ठ को छूते ही वह उसे चीर कर जल्दी से अन्दर घुस जाता है। तत्पश्चात्, रजःकण की पृष्ठ का द्रव्य बाहर से जम जाता है जिस से उसे कोई अन्य वीर्य-कण चीर कर प्रविष्ट नहीं हो सकता। यह जमाव रजःकण की रक्षा के लिये कवच का काम देता है। जब कभी रुग्ण रजःकण में कई वीर्य-कण प्रविष्ट हो जाते हैं तो एक अद्भुत प्राणी की उत्पत्ति होती है। यदि रजःकण में दो वीर्य-कण प्रविष्ट हो जायँ तो एक मिला हुआ जोड़ा पैदा होता है। परन्तु यह अस्वाभाविक अवस्था है।

जब रजःकण वीर्य-कण से संयुक्त हो जाता है तब 'गर्भ' रह जाता है। रजःकण शीघ्र ही गर्भाशय की आन्तरिक मिलली पर चिपक जाता है और गर्भावस्था का समय प्रारम्भ हो जाता है। मनुष्य-जाति में प्रायः यह समय क्लैण्डर के नौ महीनों या चान्द्रमास के दस महीनों का होता है। इस समय खियों को मासिक-धर्म नहीं होता। यद्यपि कई खियों में, गर्भ ठहरने पर भी, विशेषतः प्रारम्भिक महीनों में, मासिक-धर्म, कुछ विकृत रूप में पाया जाता है, तथापि यह असाधारण अवस्था है।

गर्भ के समय रजःकण विकास की विविध अवस्थाओं में से गुज़रता है। इन में से कई परिवर्तन हूँवहूँ वही होते हैं जो हमें भिन्न-भिन्न प्रकार के छोटे प्राणियों में मिलते हैं। एक समय आता है जब बढ़ता हुआ मानवीय-भ्रूण अण्डे से पैदा हुई छोटी-सी चिड़िया जैसा होता है। फिर समय आता है जब कि वह कुत्ते की शक्ति से इतना मिलता है कि बड़े-बड़े विज्ञानवत्ता योग्या खा सकते हैं। ऐसा भी समय आता है जब भ्रूण के हाय-पाँव एक खास मछली के बाजुओं से विलक्ष्य मिलने लगते हैं। इस के बाद भ्रूण का सारा शरीर बन्दर की तरह बालों से ढक जाता है। भ्रूण की क्रमिक वृद्धि के इन दृष्टान्तों को देकर विकासवादी कहा करते हैं कि मनुष्य तथा अन्य छोटे प्राणियों का उद्भव स्थान एक ही है। परन्तु यह उन की भूल है। इन उदाहरणों से यह सिद्ध नहीं होता कि सब की उत्पत्ति एक ही से हुई है; हाँ, यह अवश्य पता चलता है कि इन विविध योनियों को बनाने वाला एक ही हाथ है जिस की कारीगरी के एक-ही-से निशान सर्वत्र विखरे हुए दिखाई देते हैं।

## चतुर्थी अध्याय

### उत्पादक-अंग

प्रिये व्यले अध्याय में जनन-प्रक्रिया का वर्णन हो चुका ; इस अध्याय में जनन के अंगों का शारीर-शास्त्र की दृष्टि से वर्णन किया जायगा । शरीर में उत्पादक-अंग जगत्स्वरूप प्रसु की रचना-शक्ति के प्रतिनिधि हैं । पापी तथा भ्रष्ट लोग इन अंगों का बुरा उपयोग करते हैं, अन्यथा वे इतने ही पवित्र हैं जितना शरीर का कोई भी दूसरा अंग । वालकों को इन अंगों के विषय में उल्टे-सीधे तरीके से जो कुछ मालूम हो सकता है उस का संप्रह करने में वे कुछ उठा नहीं रखते । परिणाम यह होता है कि उन के विचार कु-संस्कारों की बदबू से दुर्गन्धित हो जाते हैं और उन्हें ठीक-ठीक किसी वात का पता भी नहीं चलता । इस अध्याय का विषय है—उत्पादक-अंग । इन अंगों के सम्बन्ध में विद्यार्थी का मस्तिष्क रहस्य के काले-काले वादलों से घिरा रहता है । वे वादल घनीभूत हो कर उस शुक्र की जीवन-नौका को तूफ़ान से धकेलते हुए डावाँडोल न कर दें, इसलिये इन अंगों का ज्ञान वैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक के लिये आवश्यक है । इन अंगों का अध्ययन प्रत्येक विद्यार्थी को इतने ही आत्म-संयम और एकाग्र-चित्त से करना चाहिये जितने से वह जीवन-सम्बन्धी अन्य किसी आवश्यक विषय का मनन करता है ।

खी के उत्पादक-संस्थान के अंग शरीर के भीतर तथा पुरुष के बाहर स्थित होते हैं। हम केवल पुरुष के उत्पादक-संस्थान का वर्णन करेंगे।

पुरुष की जननेन्द्रिय को शिश्न कहते हैं। यह खोखला-सा, स्पङ्ग जैसा अवयव है। इस का प्रधान कार्य मूत्रोत्सर्ग है। परिपक्वावस्था में, २५ वर्ष के बाद, यह अंग जनन के काम भी आ सकता है, परन्तु उस अवस्था से पूर्व बुरे विचार से इस अंग को हाथ भी लगाना आत्मधात की तरफ पाँव बढ़ाना है। कुचेष्टाओं से यह अंग शिथिल हो जाता है, अन्यथा संयमी पुरुष की इन्द्रिय छोटी भी होते भी उस का उत्पादन-शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस अंग में अनेक रक्त-वाहिनी प्रणालिकाएँ रहती हैं। कामभाव के विचारों से शरीर का रुधिर इन प्रणालिकाओं की तरफ जाने लगता है और जननेन्द्रिय उत्तेजित हो उठती है। इस प्रकार की उत्तेजना जिन कारणों से होती हो उन से बचना चाहिये। क्यों?—क्योंकि यह रुधिर कुछ देर जननेन्द्रिय में टिकने के बाद जीवन-रहित हो जाता है। संचित-रुधिर प्रायः थोड़ी देर के बाद जीवन-रहित हो ही जाया करता है। उत्तेजना हट जाने पर यह रुधिर फिर शरीर में गति करने लगता है और सारे रुधिर को अपने गन्दे अंश से ख़राब कर देता है। डा० कीय ने अपनी पुस्तक 'सेवन स्टडीज़ फौर यंगमेन' में अपने इस विचार की सप्रमाण पुष्टि की है। माता-पिता को स्मरण रखना चाहिये कि बालकों में जननेन्द्रिय-

सम्बन्धी ख़राचियों का सूत्रपात उस दिन से प्रारम्भ होता है जिस दिन से उन्हें पहले-पहल उत्तेजना का अनुभव होता है। वे इसे खेल की चीज़ समझने लगते हैं। पीछे इसी खेल के साथ कई रहस्य जुड़ जाते हैं और युवक का जीवन नष्ट होने लगता है। उसे समझा देना चाहिये कि यह खेल उसे किसी दिन रुकाएगी। मेरे पास सेंकड़ों पत्र पड़े हैं जिन में लड़के अपने पिछले दिनों को रोते हैं। हाँ, वे बीते दिन तो नहीं लौट सकते परन्तु आगामी आने वाली सन्ताति उन के आँसुओं से सचेत ज़रूर हो सकती है।

शिश्न का गात्र पतली त्वचा से मुख तक ढका रहता है।

इसके आगे के बढ़े हुए चर्म को मुण्डाग्र-चर्म कहते मुण्डाग्रचर्म हैं क्योंकि यह शिश्न के मुण्ड को ढाँपता है। मुसलमानों तथा यहूदियों में मुण्डाग्र-चर्म को कट्बा देना धार्मिक कर्तव्य समझा जाता है। इस कृत्य को वे ख़तना कहते हैं। उत्तरी भारत में कट्वर पंडित लबुशंका जाते समय पानी साथ ले जाते हैं और इन्द्रिय-स्नान कर लेते हैं। कई लोग इसी कार्य के लिये मट्टी का इस्तेमाल करते हैं। लबुशंका के बाद मूर्त्रेन्द्रिय को न धोने से गन्ध इकट्ठा हो कर फोड़े-फिन्सी पैदा कर देता है। मुण्डाग्र-चर्म के अन्तःष्ट पर कई छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं जिन में से एक ख़ास प्रकार का स्वाव निकलता है। इस चर्म को धीरे-से मुण्ड पर से हटा कर स्वाव को धो डालना चाहिये नहीं तो वह इकट्ठा हो कर उत्तेजना और वेचैनी पैदा करता है। कई अवस्थाओं में मुण्डाग्र-चर्म बहुत तंग होने से पीछे को नहीं हटता,

इस प्रकार शिश्न-मुण्ड का मुख न खुलने से वह टीक तौर पर धुल नहीं सकता। किसी-किसी का यह चर्म बहुत लम्बा और चिपका रहता है। ऐसी अवस्थाओं में आगे बढ़े हुए मुण्डाघ-चर्म को किसी कुशल शल्य-चिकित्सक से कटवा डालना चाहिये ताकि तत्सम्बन्धी बहुत से दुःख तथा रोग न हो सकें। नवयुवकों की ७५ फ़ी सदी शिकायतें दूर हो जायें यदि वे धीरं-से मुण्डाघ-चर्म को शिश्न-मुण्ड से हटाकर उसे शुद्ध, शीतल जल से धो लिया करें। शिश्न-मुण्ड में शरीर की ज्ञान-वाहिनी शिराएँ केन्द्रित होती हैं अतः यह स्नान सम्पूर्ण मस्तिष्क में शीतलता पहुँचा देता है और वालक अनुचित उत्तेजना से बचा रहता है।

शिश्न की सारी लम्बाई में से होकर गुज़रनेवाली प्रणाली को मूत्र-प्रणाली या अङ्ग्रेज़ी में 'यूरिं' कहते हैं।  
**मूत्र-प्रणाली** शिश्न की तरह इस के भी दो कार्य हैं; मूत्राशय में स्थित मूत्र को बाहर निकालना; शुक्राशय में स्थित शुक्र को बाहर निकालना। मूत्र-प्रणाली के यद्यपि दो कार्य हैं तथापि एक समय में यह एक ही काम करती है। मूत्र-प्रणाली का रास्ता मूत्राशय ( ब्लैडर ) तक जाता है। अन्दर से यह वैसी ही ऐप्प्ल-कला—मिल्ली—से ढकी होती है जैसी मुख तथा गले के भीतर पायी जाती है। मूत्र-प्रणाली को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

१. स्पङ्गी मूत्र-प्रणाली:—यह शिश्न के मुख से ६ इच्छ अन्दर तक फैली होती है। इस के चारों तरफ़ ऐसी मांस-पेशियाँ

होती हैं जिन की सहायता से मूत्र, वीर्य या अन्य कोई श्लेष्मामय पदार्थ सुगमता से शरीर के बाहर आ जाता है।

२. कलामय मूत्र-प्रणाली:—यह मूत्र-प्रणाली का मध्यवर्ती भाग है जो कि स्पष्टी मूत्र-प्रणाली की समाप्ति से अष्टीला-ग्रन्थि ( प्रोस्टेट ग्लैंड ) तक फैलता रहता है। इस हिस्से की लम्बाई लगभग एक इन्च होती है। इस भाग की मांस-पेशियाँ किसी रोग के कीटाणु को बाहर से भीतर आते हुए रोकती हैं और मूत्राशय में स्थित मूत्र के द्वार को बश में रखती हैं।

३. अष्टीलागत मूत्र-प्रणाली:—यह मूत्र-प्रणाली का अन्तिम हिस्सा है जो अष्टीला-ग्रन्थि के बीच में से हो कर मूत्राशय के मुख तथा शुक्र-वाहिनी नाड़ियों से मिल जाता है। यह प्रणाली चारों तरफ से अष्टीला-ग्रन्थि से बिरी रहती है। साधारणतः यह १ $\frac{1}{2}$  इन्च लम्बी होती है। अष्टीला-ग्रन्थि के रोगों का अष्टीलागत मूत्र-प्रणाली पर असर पड़ता है। अष्टीलागत मूत्र-प्रणाली में ही लघुशंका तथा जनन-सम्बन्धी इच्छा की ज्ञान-वाहिनियों के केन्द्र रहते हैं।

मूत्र-प्रणाली का मुख कोणाकार होता है, इसे मुण्ड (ग्लैन्स) कहते हैं। इस में अनेक वसामय ग्रन्थियाँ होती हुए जिन से एक प्रकार का स्वाव होता रहता है। इस स्वाव को हमेशा धोकर साफ़ कर देना चाहिये। जैसा पहले लिखा जा चुका है इन त्रिंगों का प्रकालन न होने से युवकों को अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। गन्दगी से उत्तेजना और शोथ हो

जाती है। मुण्ड की त्वचा बड़ी नाजुक होती है व्यर्थोंकि मूरु-दण्ड की अनेक ज्ञान-वाहिनी शिराएँ इस में समाप्त होती हैं। इस भाग को खुला नहीं रखना चाहिये और नाहीं धोने के सिवाय अन्य किसी समय छूना चाहिये।

कलामय मूत्र-प्रणाली की समाप्ति पर मटर के बराबर दो पिण्ड होते हैं जिन्हें कूपर की ग्रन्थियाँ कहते हैं।

**कूपर की ग्रन्थियाँ** ये प्रणाली के दोनों ओर शिश्न के मूल के बहुत समीप स्थित होते हैं। जब उत्तेजना होती है तब

इन में से एक द्रवस्त्रवित होकर मूत्र-प्रणाली में चला जाता है जो कि विशुद्ध एवं ज्ञारीय श्लेष्मा का होता है। मूत्र की प्रति-क्रिया अम्ल होती है। यही कारण है कि मूत्र के मूत्र-प्रणाली में से बार-बार गुज़रने के कारण उस की प्रति-क्रिया भी अम्ल रहती है। यदि मूत्र-प्रणाली में प्रकृति द्वारा यह चिकना ज्ञारीय द्रव स्त्रवित न हो तो वीर्य-कण की जीवनी-शक्ति अम्ल द्वारा अवश्य नष्ट हो जाय। कूपर की ग्रन्थियों से स्थित श्लेष्मा मूत्र-प्रणाली की अम्ल-प्रति-क्रिया को उदासीन कर देती है। इस प्रकार वीर्य-कण के लिये ज्ञारीय मार्ग बन जाता है।

उत्तेजना के समय, कूपर की ग्रन्थियों का स्वाव, अनेक बार वीर्य के बिना भी निकल जाता है। नौ-जवानों को कुछ पता नहीं होता, वे समझने लगते हैं कि उन का वीर्य नष्ट हो रहा है। भट वे नीम-हकीमों का आसरा हूँडने लगते हैं। वे भी अच्छा शिकार हाथ लगा जान, और सम्भवतः कुछ न जानते-बूझते होने

के कारण भी, वेचारे को डराने लगते हैं। यदि कोई यमराज के इन दूतों के पल्ले सीधा नहीं पड़ता तो इश्तिहारों के ज़रिये तो ज़ख्म ही इन के कावू आ जाता है। इश्तिहारों की भाषा इतनी चुस्त होती है कि जो आदमी समझता भी हो कि दवाइयों से कुछ नहीं बनता वह भी कभी-न-कभी किसी दवा को आजमाने की सोचने ही लगता है, हालाँकि इन दवाइयों से हानि-ही-हानि होती है। स्वयं वीर्य-नाश हो जाना ऐसे ही बैठे-बैठे किसी को नहीं होता। कूपर की ग्रन्थियों के स्वाव को अक्सर वीर्य समझकर नौ-जवान डरने लगता है। बिना मानसिक उद्देजन के वीर्य-नाश तभी होता है जब किसी ने अपने को बहुत अधिक गिरा लिया हो।

इस अवयव का कुछ भाग ग्रन्थियों से और कुछ मांस-पेशियों से मिल कर बना है। यह मूत्राशय की ग्रीवा के अष्टीला-ग्रन्थि नीचे स्थित होता है और उस स्थान पर मूत्र-प्रणाली को चारों तरफ से धेरे हुए रहता है। अथवा यों कह सकते हैं कि मूत्र-प्रणाली अष्टीला-ग्रन्थि ( प्रोस्टेट ग्लैंड ) में से होकर मूत्राशय के साथ मिलती है। इसी कारण मूत्र-प्रणाली के तीसरे भाग को अष्टीलागत मूत्र-प्रणाली कहते हैं। यह एक छल्ले की तरह मूत्राशय के मुख तथा मूत्र-प्रणाली के जोड़ पर लगा होता है। साधारणतः यह १<sup>२</sup> इन्च लम्बा और सवा तोले से कुछ अधिक भारी होता है।

इस का जनन-प्रक्रिया से विशेष सम्बन्ध है, इसीलिये अण्ड-कोष निकाल देने पर यह नष्ट हो जाता है। वृद्धावस्था में भी

यंह स्वभावतः क्षीण हो जाता है। जननेन्द्रिय के मिथ्यायोग वा अतियोग से बुद्धापे में कह्यों को अष्टीला की वृद्धि की शिकायत हो जाती है जिस से मूत्र-मार्ग में रुकावट होना स्वाभाविक है। कामोत्तेजना के समय इस ग्रन्थि की प्रणालिकाएँ विशेष प्रकार के स्नाव से भर जाती हैं। यह स्नाव मूत्र-प्रणाली में जाकर वीर्य के साथ मिल कर उस का हिस्सा बन जाता है। कूपर की ग्रन्थियों की तरह यह ग्रन्थि भी काम-भाव के समय ही स्ववित होती है, परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि इस का स्नाव भी वीर्य नहीं है।

**शुक्र दो मिल्लीद्वार थैलियों में रहता है जो मूत्राशय के**

**आधार तथा गुदा के बीच में स्थित होती हैं।**  
**शुक्राशय शुक्राशय** अण्डकोपों से स्ववित वीर्य इन में संचित होता है। काम-भाव उत्पन्न होने पर इन में से भी एक द्रव निकलता है जो उत्पादक-अंगों के अन्य स्नावों में मिल जाता है। इन स्नावों का उद्देश्य वीर्य-कण को तैराते-तैराते बाहर वहा ले जाना भी होता है। शुक्राशय कई कुण्डलियों तथा कक्षों के बने हुए हैं। इन का तंग सिरा अष्टीला-ग्रन्थि की तरफ़ होता है। इन की औसतन लम्बाई २<sup>१</sup>/<sub>२</sub> इन्च होती है। इन में वीर्य रहता है। यह वीर्य या तो शरीर में खप जाता है, या दो शुक्रसारिणी प्रणालियों द्वारा, जो इकट्ठी ही अष्टीला-ग्रन्थि में से गुज़र कर अष्टीलागत-मूत्र-प्रणाली में खुलती हैं, बाहर निकल जाता है। शुक्राशय की स्थिति को जान कर अब यह समझना कठिन नहीं कि नाभि और जनन-शक्ति का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। लगभग शुक्राशय

की सीधे में, रीढ़ की हड्डी में, जनन-सम्बन्धी अंगों को नियमित रखनेवाला वडा केन्द्र है जिसे श्रृंगेजी में 'लम्बर-हॉकसस' कहते हैं। इसीलिये सन्ध्या करते हुए 'जनः पुनातु नाभ्याम्'—अर्थात् सब का उत्पादक परमात्मा हमारी नाभि में स्थित जनन-शक्ति को पवित्र करे—इस वाक्य का उच्चारण किया जाता है।

शुक्राशय का खाव, एलन्यूमिन और ज्ञारीय लवणों के जलीय घोल का बना होता है। प्रकृति ने शुक्राशय में इस खाव को खास उपष्टि से तैयार किया है। यह पता लगा है कि वीर्य-कण श्री की जननेन्द्रिय में रजःकण की प्रतीज्ञा में कई दिन तक पड़ा रहता है। यदि वीर्य-कण शीघ्र ही रजःकण से संयुक्त हो जाय तो वडी स्थाय और बलवान् सन्तान उत्पन्न होती है। यदि उसे प्रतीज्ञा करनी पड़ती है तब उसकी पुष्टि के लिये शुक्राशय में निकले हुए एलन्यूमिन तथा प्रोटीन और जीवन की चेतना के लिये लवण आवश्यक होते हैं।

स्वप्न में शुक्राशय से वीर्य-स्वलन को स्वप्न-दोष कहते हैं। इस का मुख्य कारण दुरे स्वप्नों से शरीर तथा मन का उत्तेजित हो जाना है। ऐसे स्वप्नों का शुक्राशय पर प्रभाव पड़ता है और वीर्य स्वलित हो जाता है। इस से बचने के लिये मानसिक पवित्रता आवश्यक है। धार्मिक-पुस्तकों तथा महापुरुषों के जीवनों के मनन से मन उत्तम विचारों से भर जाता है। उत्तम पुस्तकों के अच्छे, चुने हुए स्थलों का बार-बार दोहराना मन को पवित्र रखने के लिये बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है।

कई बार स्वप्नदोष का कारण सिर्फ़ शारीरिक होता है। जैसा पहले बतलाया जा चुका है शुक्राशय, गुदा और मूत्राशय के बीच में स्थित है। गुदा और मूत्राशय जब भेर हुए होते हैं तब उन का शुक्राशय पर अनुचित द्रवाव पड़ता है जिससे उत्तेजित होकर वीर्य स्वलित हो जाता है। इसलिये जिन्हें स्वप्न-दोष की शिकायत हो उन्हें रात को सोने से पहले आँतों और मूत्राशय को साफ़ कर लेना चाहिये।

यहाँ तक हम ने उत्पादक-अंगों का वर्णन इस क्रम से किया है जिससे वे एक दूसरे से क्रम-पूर्वक सम्बद्ध हैं, अरण्डकोश परन्तु क्योंकि अगले अवयवों को समझने के लिये अरण्डकोश-सम्बन्धी ज्ञान की पहले आवश्यकता है अतः हम क्रम बदल कर उन्हीं से चलते हैं ताकि समझने में कठिनता न हो।

अरण्डकोश त्वचा की यैली है जिस में छोटी-छोटी तहें हुई हुई हैं। इसमें दो अरण्ड, एक दाईं तथा दूसरा बाईं ओर, रहते हैं। किशोरावस्था में कुछ धुँप्रीले वाल इस त्वचा पर निकल आते हैं। इस त्वचा को धोकर खूब साफ़ रखना चाहिये नहीं तो खुजली होने लगती है। यह यैली अन्दर से एक पतली तह के द्वारा दो भागों में, दोनों अरण्डों के अलग-अलग रहने के लिये, विभक्त होती है। मनुष्य के स्वास्थ्य को अरण्डकोशों की स्थिति ठीक बता सकती है। बच्चों, स्वस्थ और वलवान् लोगों का कोश सट कर सुकड़ा रहता है, सर्दी में भी ऐसा ही होता है; बृद्धों, कमज़ोरों, कीण पुरुषों के तथा गर्भी के समय कोश लम्बे तथा

## चतुर्थ अध्याय

पिलपिले से हो जाते हैं। इन कोशों में अण्ड, वीर्य-वाहिनी रज्जु द्वारा, लट्के रहते हैं। यह रज्जु दाईं की अपेक्षा बाईं और अधिक लम्बी होती है जिस से बायाँ अण्ड दाएँ की अपेक्षा अधिक नीचे को लटका होता है। कई अवस्थाओं में बच्चे के उत्पन्न होने के कुछ देर बाद अण्ड उत्तर कर अण्डकोश में आते हैं। व्हेल मछली तथा हाथी में अण्ड जीवन-भर उन की कोष्ठगुहा (एबडोमिनल कैविटी) में ही रहते हैं। मनुष्य तथा अन्य प्राणियों में ऐसा नहीं होता। यदि कहीं पाया भी जाय तो वह अपबाद समझना चाहिये।

बच्चे के पैदा होने से पहले अण्ड, कोष्ठगुहा में रहते हैं और उत्पत्ति के बाद उत्तर कर कोश में आ जाते अण्ड हैं। कई अवस्थाओं में अण्ड उत्तर कर कोश में नहीं आते जिसका फल यह होता है कि उन की वृद्धि और कार्य शिथिल हो जाते हैं। कभी-कभी सिर्फ़ एक अण्ड प्रकट होता है। ये चपटे, अण्डाकार तथा पौने औन्स से एक औन्स तक भारी होते हैं। दायाँ बाएँ से बड़ा और भारी होता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि इन का आकार नहीं अपितु स्वास्थ्य ही इन के कार्य में सहायक होता है। पुरुष के अण्ड की तरह स्त्री में 'ओवरी' होती हैं जिन से एक रजःकण प्रतिमास मासिक-वर्ष के बाद निकलता है। स्त्री की 'ओवरी' शरीर के भीतर स्थित होती हैं। प्रचलित भाषा में अण्डकोश शब्द का अण्ड के अर्थों में प्रयोग होता है।

प्रत्येक 'अण्ड' कई खणिडकाओं ( लोञ्चूलस ) से मिल कर बनता है। ये खास प्रकार की गाँठ होती हैं जो खणिडका बहुत ही वारीक प्रणालिकाओं के जाल से बनी होती हैं। वह जाल भी भीतर-वाहर से सूज़म रक्त-वाहिनियों से आच्छादित रहता है। इन खणिडकाओंमें ही वीर्य-कण बनते हैं, सम्भवतः इसीलिये संस्कृत में इसे 'अण्ड' कहा गया है।

खणिडकाओं की वारीक प्रणालिकाएँ मिल कर एक बड़ी उपाण्ड प्रणालिका में मिलती हैं और ये बड़ी प्रणालिका में मिलती हैं जिसे 'उपाण्ड' ( एपीडिडीमस ) कहते हैं। ये अण्ड को कुछ ऊपर से और कुछ नीचे से आवृत करती हैं और लगातार दोहरे होते हुए बण्डलों की-सी बनी होती हैं। अण्ड की वहिःनिस्सारक प्रणाली का यह प्रारम्भिक भाग है और अण्डमें से निकलता हुआ वीर्य-कण पहले-पहल इसी में इकट्ठा होता है।

काम से उत्तेजित होने पर अण्ड में शुक्र-कण बन कर उपाण्ड में आ जाता है। यहाँ से धक्का पा कर वह शुक्र-वाहिनी जिस वहिःनिस्सारक प्रणाली में पहुँचता है उसे शुक्रवाहिनी ( वॉस डेफ्रन्स ) कहते हैं। इस में से हो कर शुक्र, शुक्राशय में, जिस का वर्णन पहले हो चुका है, चला जाता है। शुक्र-वाहिनी का व्यास पेनिसल के सिक्के के बराबर और लम्बाई लगभग दो फ़ीट होती है। यह मूत्राशय के नीचे से होती हुई कोष्ठ की दीवार के सहारे ऊपर चढ़ कर शुक्राशय से मिल जाती है।

शुक्राशय से वीर्य दो शुक्र-सारिणी प्रणालियों द्वारा, जो शुक्र-सारिणी में इन्हें लम्बी होती हैं, मूत्र-प्रणाली में से निकलता है। यदि पूर्यमेह आदि रोग अष्टीलागत मूत्र-प्रणाली तक फैल जाय तो वह अवश्य ही शुक्र-सारिणी प्रणाली के द्वारा शुक्राशय, शुक्र-वाहिनी, उपारड और अरण्डकोश तक फैल कर सम्पूर्ण उत्पादक-अंगों को आक्रान्त कर लेता है।

जब काम-भाव से अरण्डकोशों में उत्तेजना होती है तो उनमें शुक्र-कण से हजारों शुक्र-कण निकल-निकल कर शुक्र-वाहिनी से शुक्र-सारिणी तक सम्पूर्ण अंगों को भर देते हैं। शुक्र-कण की एक पूँछ-सी होती है जो अपने गात्र से लम्बी होती है। इसे सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र द्वारा ही देख सकते हैं। शुक्र-कणों को अङ्गेनी में 'रप्मैटोजोआ' कहते हैं। ये एक द्वं भ्रम में तैरते रहते हैं जिसे 'वीर्य' कहते हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। एक बार के वीर्य-स्खलन में २ करोड़ से ५ करोड़ तक शुक्र-कण पाये गये हैं। इनमें से प्रत्येक में रजःकण से संयुक्त होकर नव-जीवन उत्पन्न करने की शक्ति होती है। शुक्र-कण छी के शरीर में प्रविष्ट होकर रजःकण की स्वोज में इधर-उधर धूमने लगता है और उस के मिलते ही उस से संयुक्त हो जाता है। यदि रजःकण छी के शरीर में उस समय तत्पार न हो तो वह कई दिन तक उस की प्रतीक्षा में वहीं ठहरता है अथवा उस की हँड़ में छी की 'ओवरी' तक पहुँच जाता है। यदि

रजःकण से उस का मिलाप नहीं होता तो वह बाहर वह जाता है। प्रत्येक शुक्र-कण तथा रजःकण माता-पिता के भिन्न-भिन्न गुणों का प्रतिनिधि होता है। यही कारण है कि सब भाई एक-से न होकर भिन्न-भिन्न गुणों के होते हैं। किसी में एक गुणवाले वीर्य-कण का विकास हुआ होता है, किसी में दूसरे का। इसी कारण कभी-कभी दादे और पोते के गुणों में समानता पायी जाती है। पिता में शुक्र-कणों के जिन गुणों का विकास नहीं हुआ होता, पुत्र में उन का हो जाता है।

शुक्र-कण पर शराव आदि मादक-द्रव्यों का असर भट्ट पड़ता है। और किसी के लिये नहीं तो व्ये की ही खातिर मादक-द्रव्यों से प्रत्येक गृहस्थी को बचना चाहिये। यद्यपि वीर्य-कण अनगिनत होते हैं तथापि इनमें से केवल एक ही रजःकण के भीतर प्रविष्ट हो सकता है। फिर, शेष सब धुल जाते हैं। गर्भ रह जाने पर खी-संग से अर्णु की वृद्धि में वाधा होती है। इस बात को सदैव स्मरण रखना चाहिये कि एक वीर्य-कण के रजःकण से संयुक्त हो जाने पर फिर कोई शुक्र-कण रजःकण से संयुक्त नहीं हो सकता। संयोग हो चुकने पर लाखों शुक्र-कण भी भ्रूण की वृद्धि में कोई सहायता नहीं पहुँचा सकते; हाँ, हानि ज़रूर पहुँचा सकते हैं। अनेक युवक इस छोटे-से सिद्धान्त से अपरिचित होने के कारण जीवन में खराब होते हैं।

बड़े-बड़े वैज्ञानिकों का क्यन है कि पुरुष के शुक्र-कण ३५ वर्ष तथा खी के रजःकण १६ वर्ष से पहले परिपक्व नहीं होते।

इस से ८६ले घाल-विवाह अथवा अन्य कुचेष्टा द्वारा मनुष्य की ज्ञान-वाहिनी शिराओं पर दबाव पड़ने से शरीर क्षीण होता है। यदि ये शुक्र-कण वाहर न निकलें तो जहाँ ये नये जीवन को उत्पन्न कर सकते थे वहाँ मनुष्य में ही शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक नव-जीवन का सञ्चार कर सकते हैं।

बहुत थोड़े लोग शुक्र-कण तथा वीर्य में भेद समझते हैं।

**शुक्र वा वीर्य** शुक्र-कण (सर्म) अरण्डकोशों से पैदा होते हैं; वीर्य कई स्त्रावों का, जिस में शुक्र-कण, शुक्राशय का स्राव, अष्टीला तथा कूपर की ग्रन्थियों का स्राव भी सम्मिलित हैं, नाम है। वीर्य का रंग दुधियाला तथा प्रति-क्रिया कुछ-कुछ क्षारीय होती है। वीर्य की रासायनिक परीक्षा से ज्ञात हुआ है कि इस में खट तथा फ़ास्फ़ोरस की बहुत अधिक मात्रा होती है। जीवन के लिये ये दोनों ही अत्यन्त आवश्यक हैं, इसीलिये वीर्य-नाश का शरीर पर वातक असर होता है।

जिस पूकार पुरुष के अरण्डकोश शुक्र-कण उत्पन्न करते हैं

**रंजःकण** इसी पूकार स्त्री के बीजकोश (ओवरी) रंजःकण का निर्माण करते हैं। पुरुष की तरह स्त्री के भी दो बीजकोश होते हैं जो आकृति तथा परिमाण में अरण्डकोशों जैसे ही होते हैं। गर्भाशय की एक-एक तरफ़ एक-एक बीजकोश मांसपेशियों से लटका रहता है। पुरुष के अरण्डकोशों की तरह ये शरीर के बाहर तथा नीचे नहीं आते। बीजकोशों के साथ प्रुक्कं-एक पूणालिका रहती है जिसे 'फैलेपियन ट्यूब' कहते हैं।

बीजकोशों से रजःकण इसी द्रव्यव में से होकर गर्भाशय में पहुँच जाता है। वहीं शुक्र-कण के संयोग से नया जीवन बनता है। एक धन-इश्व में २४० रजःकण रखे जा सकते हैं। शुक्र-कण बड़ा फुर्तीला, और रजःकण बड़ा सुस्त होता है। इन की संख्या भी उतनी नहीं होती। साधारणतः एक सप्ताह में एक ही रजःकण परिपक्व होता है। स्वाभाविक तौर से खी का रजःकण उस के गर्भाशय में पहुँच जाना चाहिये। वहाँ पर यदि उस का शुक्र-कण से संयोग होगा तो गर्भ ठहर जायगा। कई बार आकस्मिक कारणों से रजःकण का स्वाभाविक मार्ग रुक जाता है। उस समय रजःकण अपने उत्पत्ति-स्थान 'ओवरी' की पीठ से ही चिपट जाता है—आगे गर्भाशय तक नहीं पहुँच पाता। ऐसी अवस्थामें यदि वीर्य-कण वहाँ आ पहुँचे तो वहीं गर्भ बढ़ने लगता है। अनेक अवस्थाओं में अन्य दूसरे स्थानों पर रजःकण पहुँच जाता है और शुक्र-कण के मिलने से वहीं गर्भ बन कर विकृतावस्था पैदा हो जाती है जिसे दूर करने के लिये शायद डाक्टर का नश्तर ही एकमात्र उपाय रह जाता है। अनेक अवस्थाओं में नश्तर भी काम नहीं देता और माता की मृत्यु हो जाती है।

डौसन महाशय अपनी पुस्तक 'कौजेशन ऑफ सेक्स' में लिखते हैं कि लड़का या लड़की होने में पिता का नहीं परन्तु माता का असर पड़ता है। यदि माता के दाँए बीज-कोश से रजःकण आया है तो लड़का होगा, यदि बाँए से तो लड़की। प्रत्येक महीने एक कोश से एक रजःकण निकलता है। इस प्रकार यदि १५ नवम्बर, १८६५

को लड़की पैदा हुई हो तो गर्भ के २८० दिन या सात दिन के ४० सप्ताह निकाल देनेपर पता चलेगा कि फूर्वरी के पूर्यम सप्ताह में गर्भ रहा होगा। अतः फूर्वरी १८६५ का रजःकण वाई तरफ़ का होगा। यहाँ से हिसाब शुरू हो सकता है। यदि खी के फूर्वरी मास में गर्भ न उत्थर कर मार्च में उत्थरता तो दाई तरफ़ के रजःकण में गर्भ होता, अतः लड़की होने की जगह लड़का होता। इस प्रथार पहली सन्तान होने के बाद अगली सन्तानों के विषय में कहा जा सकता है कि लड़का होगा या लड़की। इसी नियम के आधार पर इन्द्र्या-पूर्वक भी सन्तान हो सकती है।

## षड्चम अध्याय किशोरावस्था, घौवन तथा पुरुषत्व

चौंदह वर्ष की आयु से पहले वचे की शारीरिक उन्नति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आता । इस के अनन्तर रहस्य-मय समय प्रारम्भ होता है । १५ वर्ष के बालक की आँखों में से उस के हृदय-रूपी पन्नों पर लिखी हुई भाषा मानो रह-रह कर बोल-सी उठती है । वचपन की सरलता उन में नहीं होती । वे भावपूर्ण होती हैं, देखनेवाले से बात करती-सी मालूम देती हैं, नौ-जवानों के दिल के पढ़ों को खोल-खोलकर सामने रख देती हैं ! कौन शुवक अपने दिल में उमड़ते भावों को छिपाना नहीं चाहता परन्तु किस की आँखें उस की एक-एक हरकत का फोटो खींच कर सब के सामने नहीं रख देतीं ?

इस आयु में मानसिक परिवर्तनों के अतिरिक्त शारीरिक परिवर्तन भी पर्याप्त होते हैं । ये सब परिवर्तन १५ वर्ष की आयु से लेकर २५ वर्ष की आयु से पूर्व ३ समयावृत्तियां हो चुकते हैं । जीवन का यह समय रहस्यों से भरा रहता है । इस २५-१५=१० वर्ष के समय में प्रत्येक शुवक का मस्तिष्क अनेक गुण तथा छिपी बातों के हूँडने में अकेला ही व्यस्त रहता है । इस समय को दो भागों में बाँटा जाता है : किशोरावस्था तथा युवावस्था ।

किशोरावस्था में शारीरिक परिवर्तन प्रारम्भ हो जाते हैं। लड़कों के उपरले होंठ, ठोड़ी तथा जननेन्द्रिय-प्रदेश बालों से आन्द्राद्वित हो जाते हैं। स्वर-यन्त्र की गहराई बढ़ने से उस की आवाज़ ज़ोरदार हो जाती है। उत्पादक-अंग वृद्धि पाकर जीवन के सारभूत वीर्य का सम्पादन प्रारम्भ कर देते हैं। लड़कियों को इस अवस्था में मासिक-धर्म प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु यह युवावस्था का प्रारम्भ ही है; पूर्ण युवक तथा युवती बनने के लिये अभी काफ़ी समय की ज़रूरत होती है। युवावस्था का प्रारम्भ हो जाना मात्र किसी युवा पुरुष को शादी के योग्य नहीं बना देता। ‘दी सायन्स शॉफ़ ए न्यू लाइफ़’ नामक पुस्तक में डाक्टर कोवन लिखते हैं:—“यह समझना बड़ी भारी भूल है कि किशोरावस्था का प्रारम्भ विवाह के लिये अनुकूल समय है। लोगों का यह समझना कि इस समय द्वी विवाह करने तथा सन्तानोत्पत्ति के योग्य हो गई है, भ्रम मूलक है। शरीर-क्रिया-विज्ञान के अनुसार विवाह सदा समुच्चत-शरीर पुरुष तथा द्वी में ही होना चाहिये। किशोरावस्था के प्रारम्भ में शरीर की अस्थियाँ पूर्णरूप से उच्चत नहीं होतीं, जिस का अर्थ यह है कि उत्पादक-तन्त्र अभी पूर्णरूप से परिपुष्ट नहीं हुआ होता।”

युवावस्था का आगमन किशोरावस्था के बाद होता है। सीधे शब्दों में यूँ कह सकते हैं कि १५ से २५ वर्ष तक की आयु के प्रारम्भ को किशोरावस्था तथा समाप्ति को युवावस्था कहते हैं। १५ वर्ष के बाद दो या तीन साल तक किशोरावस्था

होती है, उस के बाद लगभग ८ साल तक युवावस्था में शारीरिक तथा मानसिक धन का उपार्जन करना प्रत्येक युवक का कर्तव्य है। अपनी वही में पूँजी बिना जमा किये व्यापार प्रारम्भ कर देने से जीवन का दिवाला निकल जाता है।

परन्तु किशोरावस्था का प्रारम्भ हमेशा २५ वर्ष से और नव-जीवन का अन्त २५ वर्ष में होना ही निश्चित नियम नहीं है। मानवीय जीवन बड़ा लचकीला है। ये अवस्थाएँ जहाँ जल्दी आ सकती हैं वहाँ इन में देर भी लग सकती है। इन पर भोजन, व्यायाम तथा मनुष्य के रहन-सहन का बड़ा असर पड़ता है। जल-वायु का प्रभाव भी कम नहीं पड़ता। गाँव में सादा, तपम्ब्रामय जीवन व्यतीत करते हुए बालक में किशोरावस्था देर से आती है; भोग-विलास का अनियन्त्रित जीवन बिताने वाला लड़का छोटी ही आयु में दाढ़ी-मूँछों वाला आदमी लगाने लगता है। किशोरावस्था का समय से पूर्व आ जाना ख़तरनाक है। आशा से ज्यादह होनहार बालक सन्देह की वस्तु है। काम-भाव का जल्दी जाग जाना जीवन को नष्ट कर देता है। झूतु में पका फल ही फल है, पाल में पकाने से उस का माझुर्य मारा जाता है। माता-पिता तथा गुरुजन इस पर जितना ध्यान दें उतना ही थोड़ा है।

हाँ, तो फिर मनुष्य के शरीर और मन में इस आकस्मिक परिवर्तन का कारण क्या है? किन रहस्य-मय कारणों से मनुष्य पहले 'किशोर', फिर 'युवा' और अन्त में 'पुरुष' बन जाता है?

इस प्रश्न का उत्तर भली-भाँति समझने के लिये ग्रन्थियों (ग्लैंड्स) का कुछ परिज्ञान आवश्यक है। शरीर-क्रिया-विज्ञान वेत्ताओं की खोजों से पता चला है कि शरीर की रचना में ग्रन्थियों के स्राव बड़ा आवश्यक भाग लेते हैं। मुख में लाला-ग्रन्थियाँ (सेहीवरी ग्लैंड्स) होती हैं जिन से लार निकलती है। इन्हीं से मुख आर्द्ध रहता है। यदि ये स्वक्षित न हों तो जीना गुश्किल हो जाय। आमाशय की अपनी ग्रन्थियाँ होती हैं जिन से आमाशय-स्रम (गैस्ट्रॉक जूस) निकलता है। यकृत् (लिवर), अग्न्याशय (पैन्क्रियास) और अरण्ड (टैस्टिकलस) भी स्रावक-ग्रन्थियाँ हैं। इन के स्रावों में से कुछ पाचक, कुछ चिकनाई देने वाले, कुछ बाहर निकल जाने वाले, कुछ उत्पादक तथा कुछ शरीर की रचना में भाग लेने वाले हैं।

पहले शरीर-क्रिया-विज्ञान वेत्ता केवल उन ग्रन्थियों से परिचित थे जो अपने स्राव को प्रणालियों द्वारा शरीर की पृष्ठ पर निकाल देते हैं—वह पृष्ठ चाहे देखने को श्लेष्मकला (म्यूक्स मेन्ट्रेन) की तरह अन्दर हो; चाहे त्वचा की तरह बाहर। उन्हें यह भी ज्ञान था कि इन स्रावों को शरीर के भीतर या बाहर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिये स्रावक नालियाँ बनी हुई हैं। यकृत् के स्राव को अपने स्थान पर पहुँचाने के लिये अन्दर नालियाँ बनी हुई हैं; पसीने, आँसुओं के लिये बाहर। मूत्र, स्वेद, आँसू आदि स्राव बाहर निकाल केकने के लिये ही हैं और वहीं स्रावक प्रणालियों द्वारा

बाहर फेंके जाते हैं। यदि इन्हें शरीर के भीतर रोका जाय तो हानि होती है। लाला, पित आदि शरीर के अन्दर काम आते हैं, ये फेंकने के लिये नहीं हैं और अन्तःस्वावक प्रणालियों द्वारा जहाँ इन की ज़रूरत होती है वहाँ पहुँचा दिये जाते हैं।

ज्यों-ज्यों शरीर-क्रिया-विज्ञान में उन्नति हुई त्यों-त्यों शरीर में अन्य भी कई नवीन रचनाओं का पता चला। पहले केवल ‘प्रणाली-युक्त-ग्रन्थियों’ का ही पता था, अब शरीर में कुछ ऐसी भी ग्रन्थियाँ मिलीं जो प्रणाली-युक्त तो न थीं परन्तु उन की बनावट आदि सब कुछ ग्रन्थियों के ही सदृश थी। उदाहरणार्थ, ग्रीवा में ‘थाईरोयड’ तथा कोष में ‘एड्रीनल’ ग्रन्थियाँ थीं, जिन के कार्य का अभी तक पता नहीं चला था। इन में प्रणालियाँ (डक्ट्स) नहीं होतीं। खोज के बाद पता चला कि इन की रचना अन्य ग्रन्थियों जैसी ही होती है, यद्यपि ये ‘प्रणालिका-रहित’ होती हैं। डाक्टर झोनिस बरमन अपनी पुस्तक ‘डी ग्लैन्ड्स रैग्युलेटिंग पर्सनैलिटी’ में लिखते हैं:—“‘थाईरोयड’ और एड्रीनल को ग्रन्थियों की श्रेणी में अब तक इसलिये नहीं गिना गया क्योंकि इन में अपने स्वाव के परित्याग के लिये कोई दृश्य-मार्ग नहीं है। यही कारण है कि अब इन की पृथक् श्रेणी बनाई गई है और इन ग्रन्थियों को ‘प्रणालिका-रहित’ (डक्टलेस) नाम दिया गया है।”

प्रणालिका-रहित ग्रन्थियों का पता लगना एक तूतन खोज थी। खोज का स्वरूप यह था कि जहाँ हमारे शरीर में ‘प्रणाली-सहित’ ग्रन्थियाँ हैं वहाँ ‘प्रणाली-रहित’ ग्रन्थियाँ भी हैं।

प्रणाली-सहित ग्रन्थियों के स्नाव प्रणालियों द्वारा किसी पृष्ठ पर पहुँचते हैं, अतः उन स्नावों को वहिःस्नाव (एक्सटरनल सिक्कीशन) कहते हैं ; प्रणाली-रहित ग्रन्थियों के स्नाव प्रणालियों के बिना अन्दर-ही-अन्दर रूपतं रहते हैं, अतः उन्हें अन्तःस्नाव (इन्टरनल सिक्कीशन) कहते हैं । शरीर-क्रिया-विज्ञान वेत्ताओं का कथन है कि कुछ ग्रन्थियाँ ऐसी हैं जो केवल अन्तःस्नाव की रचना करती हैं, जैसे, ग्राहियड और एड्रीनल ; कुछ ऐसी हैं जो केवल वहिःस्नाव का निर्माण करती हैं, जैसे, लाला और आमाशय-ग्रन्थि ; और कुछ ऐसी भी हैं जो अन्तः तथा वहिः दोनों स्नावों को बनाती हैं, जैसे, यकृत्, आग्न्याशय और अराडकोश ।

किंशोरावस्था में शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन होने का कारण अराडकोशों का ही अन्तः तथा वहिःस्नाव है । तभी जिन व्यक्तियों के अराडकोश निकाल दिये जाते हैं उन में पुरुषत्व नहीं आता । एक ही आशु तथा एक ही बँश के द्वे बछड़े लेकर उन में से एक के अराडकोश काट दिये जायें और दूसरे के प्राकृतिक तौर पर बहने दिये जायें तो साल-भर में दोनों में बड़ा भारी भेद स्पष्ट दीख पड़ेगा । जिस का अराडच्छेद नहीं किया गया उस प्राणी का शरीर पूर्ण-रूप से विकसित, शक्तिशाली तथा अतीम उत्साह से भरा हुआ होगा ; परन्तु उस के साथी की गर्दन और सींग छोटे-छोटे, माथे पर ज़रा-से बाल तथा भोली शरू पर कमज़ोरी के निशान दिखाई देंगे । यही अवस्था घोड़े में भी होगी । एक घोड़ा जिस का अराडच्छेद नहीं हुआ,

प्राकृतिक तौर पर स्वूँ बढ़ता है। उस की मोटी-मोटी लचकीली गर्दन, उस पर लहराने वाले चाल, परिपुष्ट शरीर, लम्बा कद्द और मचलती चाल को देख कर राजाओं के भी ढिल ललचाने लगते हैं। उस की फुर्तीली चाल, बाँका नृत्य और रेतदार नज़र किसे नहीं लुभा लेतीं। दूसरी तरफ़ धोवी का टट्ठा भी तो है जो शहरों की गलियों में दुलत्तियाँ भाड़ता फिरता है। दोनों ही चिल्कुल भिन्न-भिन्न भागों पर चलते हुए उन्नत या अवनत हुए हैं। एक धोड़े के बलवान् होने का मुख्य कारण उत्पादक-ग्रन्थियों की उपस्थिति तथा दूसरे के कमज़ोर होने का कारण इन ग्रन्थियों का न होना है।

मुसल्मान बादशाह स्त्रियों के रहने के मकानों में नपुंसकों को रखा करते थे और जब कभी उन की आवश्यकता बढ़ जाती थी तो छोटे बच्चों के अण्डकोश काट कर उन्हें इस काम के योग्य बना दिया जाता था। डाक्टर फुट लिखते हैं कि “इटली में अठारहवीं शताब्दी में लगभग चार हज़ार लड़कों के अण्डकोश प्रतिवर्ष काटे जाते थे ताकि वे गाने-बजाने का काम सफलतापूर्वक कर के जनता को खुश कर सकें। इन लड़कों का पुरुषत्व मारा जाता था; उन की पुरुषों की-सी तीखी आवाज़ नहीं रहती थी और औरतों जैसा गा सकते थे।”

अण्डकोशों के अन्तःस्नाव से ही पुरुष में पुरुषत्व तथा वीजकोशों के स्नाव से ही स्त्री में स्त्रीत्व आता है। यदि पुरुष के अण्डकोश निकाल दिये जायँ तो उस में स्त्री के गुण आ जाते हैं; स्त्री के वीजकोश निकाल दिये जायँ तो उस में पुरुष

के गुण आ जाते हैं। खी तथा पुरुष दोनों का सम-विकास इन ग्रन्थियों के कारण ही होता है। ये ग्रन्थियाँ जितनी पुष्ट या क्षीण होंगी उतना ही व्यक्ति भी पुष्ट या क्षीण होगा। कई वैद्यों की मत्पत्ति में तो वृद्धावस्था का कारण ही इन ग्रन्थियों का क्षीण हो जाना है। अमेरिका में ऐसे परीक्षण किये जा रहे हैं जिन में इन ग्रन्थियों को एक व्यक्ति के शरीर में से निकाल कर दूसरे के शरीर में जोड़ देने से उस की सारी प्रक्रिया ही बदल जाती है। पुरुणों की ग्रन्थियाँ निकाल ढालने से उन का पुरुषत्व रुक जाता हो इतना ही नहीं, परन्तु जिन का पुरुषत्व खो जाता है उन के शरीर में इन ग्रन्थियों का रस ढालने से खोया हुआ पुरुषत्व लौट आता है। यदि यह बात सत्य है तो प्राचीन आर्यों का यह विचार कि ब्रह्मचर्य से मृत्यु को जीता जा सकता है, ठीक है। ब्रह्मचर्य का अभिग्राय, शरीर-क्रिया-विज्ञान की दृष्टि से, इन जनन-ग्रन्थियों को स्वस्थ रखना ही तो है। ब्रह्मचारी को जनन-ग्रन्थियों के स्रोत का संयम करना चाहिये क्योंकि इस से आयु तथा स्वास्थ्य दोनों का लाभ होता है और कुनेष्ट्रों से उत्पादक-ग्रन्थियाँ क्षीण हो जाती हैं।

जैसा पहले बताया जा चुका है, अगड़कोशों का खाव भीतर तथा बाहर दोनों ओर होता है। अन्तःखाव बचपन से ही शुरू हो जाता है। यह अन्तःखाव शरीर में खप कर उसे हृष्ट-पुष्ट बनाता है। बहिःखाव 'शुक्र-कण' के परिपक्व हो जाने पर बड़ी उम्र में होता है और यही जनन में सहायक है।

अन्तःस्नाव 'लिंग्फ' तथा 'रुधिर' द्वारा शरीर में खपता रहता है। इन्हीं के द्वारा यह मस्तिष्क तथा मेहु-दण्ड में जाकर सम्पूर्ण शरीर को एक अपूर्व शक्ति प्रदान करता है। इसी अन्तःस्नाव के कारण घोड़ा, बैल और पहलवान् एक दूसरे से बढ़-बढ़ कर शक्ति दिखलाते हैं। यदि अन्तःस्नाव निरन्तर होता रहे और शरीर में खपता रहे तो शरीर के अंगों का सम-विकास होता है; भद्दा चेहरा भी सुन्दर दिखाई देता है। जिस में ये ग्रन्थियाँ नहीं होतीं अथवा क्षीण होती हैं उस की शारीरिक वृद्धि रुक जाती है। उत्पादक-अंगों का दुरुपयोग करने से अन्तःस्नाव में वाधा पड़ती है। परिणाम-न्वरूप शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्ति रुक जाती है। काम-भाव से उत्पादक-ग्रन्थियाँ बहिःस्नाव उत्पन्न करने लगती हैं, और यह बहिःस्नाव अन्तःस्नाव की उत्पत्ति को रोक देता है। अन्तःस्नाव ही शरीर का भोजन है; खयँ शरीर में खपता रहता है; वह रुका तो शरीर की उन्नति भी रुकी। अन्तःस्नाव की ही चमक सन्तों, महात्माओं के चेहरों पर दीखा करती है। यह सारे शरीर में नवजीवन का संचार किये रखता है, पुरुषत्व को बनाये रखता है। आयुर्वैदिक परिभाषा में इस अन्तःस्नाव को ही 'ओज' कहते हैं; बहिःस्नाव के लिये 'वीज', 'शुक्र' तथा 'रेतस्' शब्द हैं। बहिःस्नाव नहीं होगा तो वही तत्व अन्तःस्नाव के रूप में शरीर को तेजस्वी तथा ओजयुक्त बना देगा; बहिःस्नाव होने लगेगा तो मनुष्य तेजहीन हो जायगा।

जैसा अभी लिखा गया, अन्तःसूत्र तो जन्म के साथ शुरू हो जाता है परन्तु वहि:सूत्र तभी होता है जब शुक्र-कण ( स्थैर्म-टोज़ोआ ) परिपक हो जायें । हाँ, अवस्था आने पर, २५ वर्ष की अवस्था के बाद, वहि:सूत्र भी धीर-धीरे निरन्तर होने लगता है और वीर्य अत्यन्त योड़ी-योड़ी मात्रा में वीर्यकोश में संचित होने लगता है । वहि:सूत्र वीर्यकोश में जाकर या तो वहाँ से शरीर में रखता रहता है, अन्यथा वीर्यकोश के भर जाने पर निकलने की कोशिश करता है । इस का निकास तीन प्रकार से होता है :—

१. या तो यह अपनी इच्छा से निकाला जाता है । वीर्य-कोश के भर जाने पर पुरुष कुचेष्टाओं द्वारा वीर्यनाश कर डालता है । इस बात को स्मरण रखना चाहिये कि इच्छापूर्वक वीर्य-स्वलन केवल गृहस्थी को उचित समय में करने से पाप नहीं होता, अन्यथा दूसरे किसी भी उपाय से वीर्य जैसे बहुमूल्य पदार्थ के नाश से आत्म-हत्या से कम पाप नहीं लगता ।

२. या यह स्वयं निकल जाता है । वीर्यकोश की स्थिति ऐसी है कि इस के एक तरफ़ गुदा और दूसरी तरफ़ मूत्राशय है । दोनों के भर जाने से शुक्राशय पर इतना ज़ोर पड़ सकता है कि वीर्य स्वलित हो जाय । जिसे ऐसी शिकायत हो उसे जहाँ पेट साफ़ रखना चाहिये, दूसरे के समय ज़ोर नहीं लगाना चाहिये, वहाँ ग्रोग्य चिकित्सक की सलाह भी अवश्य लेनी चाहिये क्योंकि वीर्य का इस प्रकार स्वयं स्वलित हो जाना रोग का सूचक है ।

३. या जब शुक्राशय भरा हो तब सोते समय मन में कोई गन्दा स्वप्न आने से वीर्यपात हो जाता है। इसे स्वप्नदोष कहते हैं। कभी-कभी शुक्राशय भरा न भी हो तो भी उपन्यासादि से दिन के समय सञ्चित किये हुए गन्दे-गन्दे विचार रात्रि को सोते-सोते सपने में इतनी कामुकता उत्पन्न कर देते हैं कि स्वप्नदोष हो जाता है। अतः स्वप्नदोष के दो कारण हैं। शुक्राशय का भरा होना या बुरे स्वप्न। बुरे स्वप्नों से वीर्य-नाश हो जाने को तो एक रोग समझ कर उस की चिकित्सा करनी चाहिये। प्रश्न यह रह जाता है कि यदि शुक्राशय के भर जाने से वीर्यनाश, सोते या जागते, हो जाय अथवा किया जाय, तो वह कहाँ तक अनुचित है?

जिस किसी ने भी इस विषय पर विचार किया है, चाहे वह बीसवीं सदी का वैज्ञानिक हो चाहे पहली सदी का कोरा परिणित, उसी का कथन होगा कि किसी तरह से भी वीर्यनाश अनुचित है, अत्यन्त अनुचित। उत्पादक-ग्रन्थियों का अन्तःस्राव (ओज) तो असंदिग्ध तौर पर शरीर में स्वयं ही खपता रहता है; वहि:- स्राव (बीज, शुक्र) भी अभ्यास से खप सकता है और खपता है। आखिर, वहि:स्राव तो अन्तःस्राव का ही काम-भाव से बाहर निकल आना है; फिर यदि अन्तःस्राव शरीर में खपता है तो वहि:स्राव क्यों नहीं खप सकता? वहि:स्राव के शरीर में खप जाने के परिणाम चमत्कारी होते हैं। इस में सन्देह नहीं कि वहि:स्राव स्वयं नहीं खपेगा, शुक्राशय के भरने पर यह निकलने की कोशिश करेगा, और इसीलिये ऐसे व्यक्तियों के लिये

ऋषियों ने विवाह की आयु २५ वर्ष रखी है। स्त्राभाविक जीवन व्यतीत करते हुए २५ वर्ष में ही वीर्यकोश भरना चाहिये। परन्तु २५ वर्ष निष्टुप्त-ब्रह्मचर्य कहा गया है। यह आदर्श नहीं है। प्राचीन काल के योगी लोग ऐसे-ऐसे अभ्यास जानते थे जिन के द्वारा वहि:माव शरीर के रक्त में पुनः संतरित होकर जीवन में नृतन शक्ति को भर देता था। ऐसे महात्माओं को 'उर्व्व-रेता' या 'आदित्य-ब्रह्मचारी' कहा जाता था। ये ४८ वर्ष तक अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। प्राचीन भारत में अप्स्तुत ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए किसी आध्यात्मिक गुरु की संस्था में शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता था। अतीत काल के उस गुहामय गर्भ में मानव-समाज के गुरु अपने शिष्यों का आचार बनाना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य समझते थे। उन का लक्ष्य ऊँचा था। अखण्ड-शक्ति के भण्डार परमात्मा की खोज में वे जीवन बिता देते थे। उसी के ध्यान में—‘मरणं विन्दु पातंन जीवनं विन्दु धारणात्’— के तत्व का अवगाहन कर वे वीर्य जैसी जीविनी-शक्ति का संग्रह करते थे। शुवकों को स्मरण रखना चाहिये कि, सोते या जागते हुए, स्वयं हुआ-हुआ या किया हुआ, किसी प्रकार का भी, वीर्यनाश जीवन के लिये शातक है।

यदि नव-युवक उत्तादक-श्रंगों के अन्तःक्षाव को शरीर में खपा लेने के महत्व को समझें तो शैतान के प्रलोभनों में फँसने से पहले वे कई बार सोचें और गिरने से बचें। किशोरावस्था

शरीर के विकास का समय है। इसी समय तो शरीर की सम्पत्ति बढ़ती है। उस मनुष्य को धिक्कार है जो थोड़े से शारीरिक धन की गर्भी में अपने-आप को भुला कर फिजूलत्खंची में पड़ जाता है। वे सब बुराइयाँ जो कामुकता उत्पन्न कर के अन्तःस्राव में वाधा डालतीं और वहिःस्राव उत्पन्न करती हैं आज हमारे युवक-समाज में तबाही मचा रही हैं। भोग-विलास की युवक-मण्डली में कभी नहीं है। ऐसी अवस्था में अन्तःस्राव मानो सूका जा रहा है। वहिःस्राव का निकास उत्पादक-अंगों को यकाये बिना नहीं मानता और, प्राचीन-ऋषियों तथा वर्तमान शरीर-क्रिया-विज्ञान वेत्ताओं का कथन है कि, जहाँ उत्पादक-अंग यके वहाँ अन्तःस्राव का निकास और अन्दर-ही-अन्दर खपना भी बन्द हुआ।

प्रत्येक युवक को चाहिये कि अपने अन्दर अन्तःस्राव (ओज) और वहिःस्राव (वीर्य) दोनों को धारण करे और 'किशोरावस्था', 'यौवन' तथा 'पुरुत्व' को क्रमिक विकास में प्रस्तुति होने दे।

षष्ठि अवधारणा

‘इन्द्रिय - निग्रहः’

### १. स्वाभाविक जीवन

**जिं**न स्वाभाविक अवस्थाओं में हम जीवन व्यतीत करते हैं।

उन में ब्रह्मचर्य का अखण्डित रहना प्रायः असम्भव-सा हो गया है, परन्तु फिर भी शारीर-शास्त्र की दृष्टि से ‘ब्रह्मचर्य’ का अर्य समझने के लिये, यह जान लेना आवश्यक है कि स्वाभाविक अवस्थाओं में रहते हुए ब्रह्मचर्य का अभिप्राय क्या होगा ? उस समय शरीर की आम्यन्तरिक-क्रिया किस प्रकार चल रही होगी ?

जैसा पहले कहा जा चुका है, अण्डकोशों का अन्तःस्राव जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक निरन्तर होता रहता है। यह स्राव स्वयं-ही शरीर में खपता रहता है और मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक उन्नति में सहायक होता है। अन्दर-ही-अन्दर उत्पन्न होने तथा खप जाने वाले इसी रस को ‘ओज’ कहते हैं। यह पट्ठों को मज्जवूत करता, स्नायुओं में शक्ति भरता तथा शरीर को तेजोमय बनाता है।

परन्तु वहिःस्राव में तो अण्डकोशों से ही दूरे हुए छोटे-छोटे जीवित कोष्ठक बाहर निकलते हैं। इन जीवित कोष्ठकों को

अङ्गेनी में 'स्वमेटोनोआ' या शुक्र-कण कहते हैं। मनुष्य का शरीर जब परिपक्व हो जाता है तभी यह बहिःस्राव होता है। यह जीवन में निरन्तर नहीं होता रहता। स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य के शरीर में यह क्रिया २५ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होती है और ५० वर्ष तक होती रहती है। जैसा अभी कहा गया, शुक्र-कण एक जीवित-कोषक है, अतः अन्तःस्राव की भाँति बहिःस्राव शरीर में स्वयं जड़न नहीं हो सकता। हाँ, योग की शक्तियों तथा विधियों द्वारा इसे भी शरीर में खपाया जा सकता है। प्राचीन भारत के आश्रमों में, जिन का नाम गुरुकुल होता था, यह विद्या सिखाई जाती थी और जो संयमी पुरुष इस विद्या में दीक्षित होते थे उन्हें ऊर्ध्वरेतस् या आदित्य-ब्रह्मचारी कहा जाता था, उन का वीर्य आजीवन अखण्डित रहता था। परन्तु यह आदित्य-ब्रह्मचारी का जीवन सर्व-साधारण के लिये न था। जो लोग 'ऊर्ध्वरेतस्' के रहस्यों में दीक्षित नहीं हो सकते उन के लिये बहिःस्राव के स्वाभाविक रूप से प्रकट होने का समय ही विवाह का समय रखा गया है। भारतीय शारीर-शास्त्रियों के मत में इस देश के जल-वायु में पचीस वर्ष की अवस्था में, शुक्र-कण के रूप में, बहिःस्राव उत्पन्न होने लगता है अतः उन्होंने विवाह की आयु भी पचीस वर्ष ही बतलायी है। स्वाभाविक जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति को बचपन, कुमारावस्था तथा शुवावस्था कभी अशान्त नहीं होने देतीं, उस के सन्मुख इन्द्रिय-नियह का प्रश्न ही नहीं

उपस्थित होने पाता। पचीस वर्ष की अवस्था में अण्डकोशों के जीवित कोष्ठक (शुक्र-कण) टूट-टूट कर शुक्र-वाहिनी प्रणालिका में से होने हुए शुक्राशय में प्रविष्ट होते हैं और अपनी स्त्रीभाविक गति से पुरुष में उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। यदि इस अद्वस्था में पुरुष का स्त्री-सम्बन्ध हो, और संयम-पूर्वक रहा जाय, तो वहि:- सूत्र का निरुलना हानि-जनक नहीं होगा और ना ही इस से शारीरिक अथवा मानसिक उत्तरति में कोई वावा होगी। इस अवस्था में विवाह हो जाने से अन्तःस्रूत के कार्य में कोई रुकावट नहीं होगी और स्त्री-पुरुष दोनों को हानि के स्थान में प्रायः लाभ ही पहुँचेगा।

परन्तु शायद अस्वाभाविक-जीवन के इस युग में हमें स्त्रीभाविकता पर विचार करने का भी अधिकार नहीं। प्रकृति माता के सौम्य सुख पर हम ने अपने घृणित कार्यों से कलंक का टीका लगा रखा है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हमाग अप्राकृतिक-जीवन आजकल के बच्चों को उम्र से पहले ही पका देता है और इसीलिये छोटी ही आयु में उन में कृत्रिम उपायों द्वारा वहि:स्रूत उत्पन्न होने लगता है। स्वाभाविक जीवन की सौम्यता कहीं देखने को भी नहीं मिलती, वह आज केवल काल्पनिक शारीर-शास्त्र का अथवा वहस का ही विपय रह गई है। वर्तमान जीवन को समझने के लिये 'अस्वाभाविक जीवन' का, अथवा 'अप्राकृतिक जीवन' का, अध्ययन करने की आवश्यकता है।

## २. अस्वाभाविक जीवन

इस समय मानव-समाज के खी-पुरुष अप्राकृतिक-जीवन व्यतीत कर रहे हैं अतः सर्वत्र ही इन्द्रिय-नियंत्र का अत्यन्त अभाव दिखाई देता है। संयम नाम मात्र को भी नहीं रहा। इन्द्रिय-संयम को मुख्यतः दो रूपों में तोड़ा जा रहा है: जान-बूझ कर और विना जाने-बूझे !

( १ ) जान-बूझ कर संयम-हीन-जीवन व्यतीत करने का अभिप्राय क्या है? यही कि शरीर तथा मन को, आँखों के खुली हुई होते हुए, विषय-वासना की कल्पित वेदी पर बलि चढ़ा दिया जाय और इस ओर पाप की ज़िम्मेवारी भी अपने ही कंधों पर हो! माना कि इस पाप में हम ने खुल्मखुल्ला अपनी सहमति न दी हो, माना कि किसी-किसी समय हम ने इस गढ़े में गिरने से घचने की भी चेष्टा की हो, परन्तु फिर भी प्रलोभन आने पर हम सम्हल न सकें; यद्यपि उस समय हमारी आँखें खुली हों; हम जाग रहे हों, परन्तु फिर भी देखते-ही-देखते गढ़े में गिर पड़ें! कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पाप के प्रति धृणा तथा अनिच्छा हमारी रगों में कूट-कूट कर भरी होती है, हम समझते हैं कि हमारी गिरावट में हम कारण नहीं, परन्तु थोड़ा-सा अनुसन्धान करने पर पता लग जाता है कि हमारी ही चेतना के एक कोने में हमारी ही 'इच्छा' का एक लचकीला तन्तु, जो समय पड़ने पर विशाल-रूप धारण कर लेता है, छिपा था, और उसी ने हमें

ठीक मौके पर धोखा दिया । पहले एक साधारण-सी 'प्रवृत्ति' उत्पन्न हुई—फिर छोटी-सी 'इच्छा' वनी ; यह इच्छा अनेक बार हुई और 'आदत' या 'आचार' बन गई ; फिर वही पकती-पकती 'प्रश्नति' या 'स्वभाव' हो गई—यही उपक्रम अविरत रूप से चलता है और इस में 'जागरूक-इच्छा' की एक अविकल शृंखला दृष्टि-गोचर होती है । अनिच्छा में कहीं इच्छा का बीज छिपा हुआ रहता है जो कभी अनुकूल परिस्थिति पा कर प्रादुर्भूत हो जाता है । ऐसी अवस्था में जब मनुष्य सहसा अपने आत्मा को किसी गिरावट के गड़े में गिरा हुआ पाता है तो सहसा उस के मुख से निकल पड़ता है :—

‘जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः,  
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।’

दुर्भाग्यवश, यह अवस्था जो अत्यन्त भयानक है, अत्यन्त फैली हुई भी दीख पड़ती है । हम अपने हाथों से ही अपनी डमारत की आवार-शिला को हिला देते हैं, अपने-आप आत्मिक अधःपतन के गड़े में कूद पड़ते हैं, जानते-बूझते मृत्यु तथा सर्वनाश के मुख की तरफ कढ़म बढ़ाते जाते हैं । इस मूर्खता की भी कोई सीमा है कि हम अपनी हत्या अपने-आप ही करते हैं ! सर्वनाश, और वह भी जान-बूझ कर ! मृत्यु, और वह भी अपने ही हाथों !! क्या परमात्मा के राज्य में इस से बड़ा पाप भी सोचा जा सकता है ? जान-बूझ कर दुराचार का जीवन व्यतीत करना ही व्यभिचार कहाता है । यह व्यभिचार, यह संयम-हीनता,

कई तरह की है। मुख्यतः, इसके तीन भेद हैं : आत्म-व्यभिचार (हस्तमैथुनादि); पत्नी-व्यभिचार तथा वेश्या-व्यभिचार।

(२) यह तो हुई जान-वूफ कर संयम-हीनता ! बिना जाने-वूफे भी संयम टूट जाता है और यह प्रायः जागते नहीं परन्तु सोते समय होता है। इसीलिये इसे 'स्वप्नदोष' कहते हैं।

अखाभाविक जीवन के दो भाग किये गये हैं : जान-वूफ कर संयम तोड़ना तथा बिना जाने-हुए टूट जाना। जान-वूफ कर संयम-हीनता को हम ने तीन भागों में विभक्त किया है : आत्म-व्यभिचार; पत्नी-व्यभिचार तथा वेश्या-व्यभिचार। बिना जाने हुए संयम टूट जाने को स्वप्नदोष कहते हैं। अगले चार अध्यायों में हम इन्हीं चारों का क्रमशः विवेचन करेंगे तथा इन के कारणों, परिणामों और उपचारों पर विचार करेंगे।

## सत्त्वम् अध्याय

‘इन्द्रिय-निग्रहः’

[ क. आत्म-व्याख्यार्थ ]

**जि**न अस्वाभाविक परिस्थितियों में लड़के-लड़की आजंकल रखे जाते हैं उन का अवश्यम्भावी परिणाम उन के शरीर तथा मन पर हुए चिना नहीं रहता। छोटी-ही उम्र में उन का जीवन अशान्त होने लगता है। वे हृदय में उठते मानसिक-विकारों का अभिप्राय समझ नहीं पाते। जो लहरें उठती हैं उन्हें रोकने के लिये उन की संकल्प-शक्ति अभी अत्यन्त निर्बल होती है। उन के जीवन में ऐसे क्षण बहुधा उपस्थित हो जाते हैं, जब काम-वासना से वे अन्धे हो जाते हैं, बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। ऐसे अवसरों पर मनुष्य की अन्तरात्मा में छिपा हुआ शैतान उस के देवीय-भाव पर मोह का पर्दा डाल देता है और वह धृणित-से-धृणित पाप करने के लिये भी तथ्यार हो जाता है। ऐसे स्मृति-भ्रंश और बुद्धिनाश के समय ही मनुष्य हस्त-मैथुन आदि पैशाचिक कृत्यों में प्रवृत्त होकर अपनी आत्मा का हनन कर बैठता है। एक क्षण के आनन्द के लिये वह आजन्म अपने सिर पर पाप की गठरी लाद लेता है। मनुष्य की जनननिद्र्य किंतनी पवित्र है! यह सृष्टिकर्ता की उत्पादन-शक्ति

की प्रतिनिधि है ! गन्दे वातावरण में रह कर मनुष्य इसी उच्च-शक्ति का अपमान कर बैठता है । कृत्रिम साधनों से—हस्त-स्पर्श से, उल्टा लेट कर अथवा किसी दूसरी प्रकार द्वाव डाल कर—जननेन्द्रिय को उत्तेजित कर देता है और शक्ति के असीम-भण्डार वीर्य को खो बैठता है । यह महापातक है, अपनी आत्मा का छिप कर घात करना है, आत्म-व्यभिचार है !

यह पाप ऐसा है जो मनुष्य छिप कर करता है और अकेला करता है, इसीलिये अन्य घृणित पापों की अपेक्षा यह सब से ज्याद़ह फैला हुआ है । जो इस पाप के बेग के सन्मुख एक बार भी झुक गया वही इस का बे-दामों का गुलाम बन गया । एक बार इस शत्रु के सन्मुख हारना सदा की हार को निमन्त्रण देना है । प्रतिदिन संकल्प-शक्ति कमज़ोर होती जाती है, प्रतिरोध करने की हिम्मत ही नहीं रहती । अन्त में यह आदत मनुष्य को इस प्रकार ज़कड़ लेती है कि इस के शिक्षे से अपने को छुड़ाना उसके लिये असम्भव हो जाता है । नवयुवकों में यह पाप महामारी की तरह फैलता है । इस विषय के जानकारों की इस विषय में बड़ी-बड़ी भयोत्पादक सम्मतियाँ हैं । कईयों का कथन है कि इस का ज़हर विश्वायापी है । अनेक चिकित्सकों की सम्मति है कि अपने जीवन-काल में प्रत्येक व्यक्ति इस रक्त-शोषणी लत का किसी-न-किसी समय शिकार रह चुका है । पुरुषों तथा लिंगों, लड़के तथा लड़कियों, युवा तथा वृद्धों—सब की डायरियों में ऐसी घटनाओं की कमी नहीं जिन्हें याद कर-कर वे जीवन-भर पछताते

## सम्म अध्याय

रहते हैं। यह आदत मनुष्य को शैक्षि-हौन् तया जन्म का दुःखिया नना कर खाट पर पटक देती है। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जिन के विषय में सन्देह भी नहीं हो सकता कि वे इस पाप-पंक में झूँव रहे होंगे—परन्तु जिन के वास्तविक जीवन की एक झाँकी ही देखने वाले को कॅंपा देती है। कईयों को हस्त-मैथुन की बीमारी हो जाती है, ठीक उसी तरह की बीमारी, जैसी और बीमारियाँ होती हैं। लाख कोशिश करते हैं, परन्तु इस से छूट नहीं सकते। मौके आते हैं जब इस आंवेग के सन्मुख धास की तरह वे झुक जाते हैं और आंवेग के निकल जाने पर शर्म के मारे उनमें मुख उठा कर ऊपर देखने तक की हिम्मत नहीं रहती!

डाक्टर कैलोग महोदय एक डाक्टर की राय लिखते हैं:—  
 “मेरी सम्मति में मानव-समाज को हैग, युद्ध, चेत्रक तथा इसी तरह की अन्य बीमारियों से इतना नुकसान नहीं पहुँचा जितना हस्त-मैथुन तथा इसी प्रकार के अन्य घृणित महा-पातकों से ! सभ्य-समाज के जीवन को नष्ट करने वाला यह एक बुन है जो अपना शातक कार्य लगातार करता रहता है और धीरे-धीरे जाति के स्वास्थ्य को समूल नष्ट कर देता है।” एक दूसरे लेखक की सम्मति है:—“हमें इस बात का ज़रा भी झ्याल नहीं कि हमारे लड़के-लड़कियों में आत्मा को गिराने वाला यह महा-भयंकर रोग कहाँ तक घर कर चुका है। हम भूल से समझते हैं कि वे इस रोग से बरी हैं परन्तु आँखें खोल कर देखने से भृति छलता है कि यह रोग उन के जीवन-स को चूस रहा होता है।” १५

“किंशोरावस्था को पार कर युवावस्था में पग धरते हुए युवकों में अनेक निर्वलताएँ दीख पड़ती हैं। माता-पिता कहने लगते हैं कि ये युवावस्था के अवश्यम्भावी परिणाम हैं, परन्तु वास्तव में इन कमज़ोरियों का कारण भी प्रायः लड़कों का बुरी आदतों में पड़ जाना ही होता है।”

### का र ण

यहाँ इस बात पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा कि नवयुवकों की हस्त-मैथुनादि घृणित कार्यों की तरफ़ प्रवृत्ति कर्यों कर हो जाती है ? मुख्यतः इस वासना के जागने के दो कारण हैं : भौतिक तथा मानसिक । यह कह सकता कि अमुक उत्तेजना का कारण भौतिक है और अमुक का मानसिक, अत्यन्त कठिन है ; प्रायः प्रत्येक कामोत्तेजना में भौतिक तथा मानसिक दोनों कारण मिले-जुले रहते हैं ; भौतिक मानसिक के लिये और मानसिक भौतिक उत्तेजना के लिये भी कारण हो जाती है ; परन्तु फिर भी जिस विषय पर हम विचार कर रहे हैं उसे भली-भाँति समझने के लिये भौतिक तथा मानसिक — इन दो भेदों का करना आवश्यक है । कामोत्तेजना के भौतिक कारणों से हमारा अभिप्राय उन कारणों से होगा जिन में काम-वासना की उत्पत्ति में मुख्यतः शरीर तथा अन्य भौतिक वस्तुएँ कारण हों ; मानसिक कारणों से भतलव उन से होगा जिन में प्रधानता मन की हो । एक अवस्था में उत्तेजना का कारण शरीर तथा वाय्य साधन हैं ;

- दूसरी अवस्था में वही कार्य मन द्वारा होता है—परिणाम दोनों अवस्थाओं में एक ही—उत्तेजना—रहता है।

## भौतिक कारण

जब पुरुष का शरीर परिपक्व हो जाता है, अर्थात् जिस समय स्वाभाविक तौर पर विहित्वाव उत्पन्न होकर पुरुष में काम-वासना को जागृत कर देता है, उस समय उत्तेजना उत्पन्न होने लगती है। यदि स्वाभाविक जीवन व्यतीत किया जाय तो पचीस वर्ष के बाद ही यह अवस्था आती है। यह शरीर की स्वाभाविक क्रिया है। इस समय विवाह हो जाना चाहिये। यदि इस समय विवाह न हो, और लड़के-लड़कियों की संकल्प-शक्ति भी दृढ़ न हो, तो वे इस उत्तेजना को शान्त करने के लिये अस्वाभाविक उपायों का अवलम्बन करने लगते हैं। शरीर की इस परिपक्वा-क्रस्या में उन लोगों का विवाह न करना जिन की संकल्प-शक्ति दृढ़ नहीं और रुचि भी आव्यातिमक नहीं, भयंकर है। ऐसे लोग खुद-ब-खुद हस्त-मैथुन का शाविष्कार कर लेते हैं, वे आत्म-व्यभिचार के शिकार बन जाते हैं। इस बात को स्मरण रखना चाहिये कि विवाह कर के नियमित गृहस्थ-धर्म पालन करने से शरीर को वह ज्ञाति नहीं पहुँचती जो हस्त-मैथुन की बुरी लंत से। पति-पत्नी के प्रेम-भय, भय-रहित आलिंगन में एक प्रकार की वैद्युतिक शक्ति उत्पन्न होती है जो दोनों के स्नायु-तन्तुओं की ज्ञाति को पूर्ण कर देती है। हस्त-मैथुन के पैशाचिक कारण

में मस्तिष्क के सर्वोत्तम रस का नाश—नाश और नाश ही होता है, इसलिये इन्द्रिय-निग्रह के इस शत्रु द्वारा मनुष्य पर जो विपदाएँ टूटती हैं वे कहीं कठोर और कहीं भयंकर होती हैं! इसलिये स्वाभाविक शारीरिक क्रिया से, जिस का विस्तृत वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है, पके हुए व्यक्ति के लिये, उचित आशु में विवाह कर लेना ही धर्म-शास्त्र सम्मत है।

( १- ) परन्तु स्वाभाविक तौर से परिपक्व होने वाले पुरुषों तथा उन्हें सताने वाले खतरों का क्या ज़िक्र ; यहां तो अस्वाभाविक तौर से, उचित अवस्था से पहले ही, युवावस्था में ही पुरुष बन जाने वालों की कमी नहीं है ! अनेक भौतिक कारणों से उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है । जैसा एक पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है, यदि गुह्य-अंगों की भली प्रकार सफाई न की जाय तो उन में खुजली होने लगती है, छोटी-छोटी फुनिसियाँ हो जाती हैं और स्वयमेव हाथ उधर जाने लगता है । अन्तजान बालक को भी उत्तेजना का साधन मिल जाता है, वह हस्त-मैथुन के गुप्त-रहस्यों में स्वयं-ही दीक्षित हो जाता है और इस आदत का शिकार हो कर यमराज की निकराल दँष्टाओं में पिसने के लिये मानो उतावला होकर दौड़ने लगता है । कभी-कभी जनने-निद्र्य के अगले हिस्से को ढकने वाली चमड़ी, जिसे मुण्डाग्र-चर्म कहा जाता है, पीछे नहीं हट सकती जिस से शिश्म-मुण्ड पर जो मैल इकट्ठा होता है उसे पानी से साफ़ नहीं किया जा सकता । इस से भी खुजली उत्पन्न होती है और फिर हाथ

उधर आकर्षित होता है। हाथ केवल खुजली के लिये सिंचता है, परन्तु परिणाम कितना भयंकर हो जाता है! कैसा सर्वनाश है! परमात्मा ने पशुओं तथा मनुष्यों में यही तो भेद किया था। पशु को हाथ नहीं दिये; मनुष्य को दो हाथ दिये ताकि वह हाथों के सदुपयोग द्वारा अपने को पशुओं से ऊपर उठा ले, परन्तु अफ़सोस! मनुष्य कितना कृतज्ञ है, परमकारुणिक भगवान् की सब कृपाओं को ठुकरा कर वह उन्हीं हाथों से जिन से उसे ऊपर उठना चाहिये या अपने को पशुओं से भी नीचे गिरा रहा है। प्राचीन आश्रमों में शिक्षा देने वाले ऋषि व्रजचर्याश्रम में प्रविट होते हुए बालक को उपदेश देते थे—हाथ से इन्द्रियसर्पण मत करना! इस उपदेश को सुन कर वर्तमान शिक्षा में पले हुए गन्दे दिमाग़ों के लोग मुँह फेर कर हँसने लगेंगे, परन्तु इस हँसी का जवाब, और दिल दहला देने वाला कड़वा जवाब, उन नवयुवकों के चेहरों पर लिखा है जो निरन्तर उठने वाली दिल के फोड़े की दर्द को दबाए असीम बेद़ना में कराह रहे हैं। उन से पूछो, हाथ को पवित्र रखने का क्या अभिप्राय है; और उन से पूछो, हाथ को अपवित्र करने का क्या प्रायश्चित्त है।

(२) इस के अतिरिक्त जननेन्द्रिय पर अचानक दबाव पड़ने से भी कई लड़के-लड़कियाँ हस्त-मैथुन की बुरी आदत सीख जाते हैं। डा० एलवर्ट मौल लिखते हैं:—“घोड़े पर चढ़ना, सीने की मैशीन को पाओं से चलाना, वाईसिकल दौड़ाना तथा रेलगाड़ी की सवारी से भी उत्तेजना हो जाती है और यह उत्तेजना ही आगे

— चल कर हस्त-मैथुन की तरफ मनुष्य को प्रवृत्त कर देती है।” तभी शायद प्राचीन काल में पिता ब्रह्मचारी को शिक्षा देते हुए कहता था:—“गवाश्व हस्त्युष्टादि यानं वर्जय”—जहाँ तक संभव हो, वैल, घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि की सवारी मत कर। एक बार इस आदत का शिकार बन जाने पर लड़के वेशमें हो जाते हैं और खराब होने के तरह-तरह के तरीके निकाल लेते हैं। एक लेखक का कथन है:—“वे कुर्सी, मेज़ आदि के साथ झुक कर खड़े हो जाते हैं, देखने वाले को मालूम पढ़ता है कि साधारण तौर पर यूँ ही खड़े हैं परन्तु वास्तव में इस स्थिति से जननेन्द्रिय पर दबाव पड़ रहा होता है। इस प्रकार वच्चे आत्म-व्यभिचार के घृणित कार्य को इतना ही नहीं कि अपने माता-पिता के सामने परन्तु कई आदमियों के बीच में करते देखे गये हैं।” यदि उन्हें समझाने वाला कोई हो, और उन्हें स्पष्ट-शब्दों में समझा दे कि इस से उत्तेजना होगी और आत्मा का पतन होगा, तो अनेक नवयुवकों का जीवन बच जाय। यह भी देखा गया है कि कई बालक पढ़ते-लिखते हुए पेट के बल-लेट कर पढ़ते-लिखते हैं, परन्तु यह स्थिति भी जननेन्द्रिय पर अनुचित दबाव डालती है। इन स्थितियों का प्रयोग दुनियाँ की आँखों में धूल भाँकने के लिये किया जाता है। उस मन का पतन किस गहराई तक हो चुका होगा जो सब के देखते-देखते अपनी आत्मा की हत्या करने पर उताऱ हो जाता है, और ऐन दिन के बारह बजे इस पाप को करता हुआ अपने चारों तरफ की दुनियाँ को बेवकूफ़ समझता

हैं ! सटी हुई पतलून और पायजामा भी कभी-कभी उत्तेजना उत्पन्न कर देते हैं । डॉ० बोर्डर्हार्ड का कथन है :—“बालक जब लघुशंका करना चाहता है तो उसे इन्द्रिय पतलून के बाहर निकालनी होती है । प्रारम्भ में वह इसे स्वयं नहीं कर सकता, दूसरे लोग उस के लिये यह काम कर देते हैं । कभी-कभी नौकर लोग यह करते हैं । वे बालक को इन्द्रिय से खेलना सिखा देते हैं । बड़ी अवस्था में यही आदत विकृत रूप धारण कर लेती है ।” इसे रोकने के लिये डाक्टर महाशय का कथन है कि प्रारम्भ में ६ से १४ वर्ष तक लड़कों को लड़कियों के से खुले कपड़े पहनने चाहियें । शायद डाक्टर बोर्डर्हार्ड को भारत की धोती का पता न था, नहीं तो वे धोती का ही नाम ले देते ।

( ३ ) उत्तेजना के मुख्य कारणों में से भोजन एक है । डॉ० कैलोग अपनी पुस्तक ‘हेन फैक्ट्रस’ में लिखते हैं :—“कई लोगों का कथन है कि भोजन एक साधारण-सी वस्तु है । परन्तु यह अत्यन्त भ्रमात्मक विचार है । शरीर-क्रिया-विज्ञान की तो यह शिक्षा है कि हमारे ख्यालात भी भोजन से ही बनते हैं । जो आदमी अचार, मैदे की रोटी, मिठाई खाता है, टी-काफ़ी पीता है और तम्बाकू का इस्तेमाल करता है उस के लिये विचारों को पवित्र रख सकना आस्मान में उड़ने की आशा के समान है । यदि वह पवित्र जीवन व्यतीत कर सके तो यह एक ज्ञानकार होगा, परन्तु मानसिक पवित्रता का रख सकना तो उस के लिये सर्वथा असंभव ही होगा ।”

डा० कोवन अपनी पुस्तक 'सायन्स ऑफ़ एन्ड न्यू लाइफ़' में लिखते हैं:—“काम-वासना को उत्पन्न करने के कारणों में से दूषित-भोजन मुख्य है। यह कल्पना करना कि बच्चे को भोजन में अण्डा, मांस, मिरच, मसाला, मिठाई, अचार, चाय, काफ़ी और कभी-कभी शराब भी दी जाय और वह कामुकता से बचा रहे, एक असम्भव कल्पना करना है। यदि ५ या १० वर्ष की आयु वाले आस्मान के फ़रिश्ते को भी ये भोजन खाने को दिये जायें तो उस में भी आत्म-व्यभिचार की वासना उत्पन्न हो जायगी; मनुष्य के बालक का तो, जिस में हज़ारों पैत्रिक कुसंस्कार पहले ही बीज-रूप से मौजूद होते हैं, कहना ही क्या !”

(४) अनेक कोमल-वयस्क बालकों के वसन्तमय नववौवन को नौकर हर ले जाते हैं। जब बच्चा रोता है तो दाइयाँ उसके गुह्य-अंगों पर धीमी-धीमी थपकी देती हैं ताकि उस का ध्यान इस प्रकार उत्पन्न होने वाले आनन्द में बैठ जाय। शायद उस समय उन्हें अपने इस मूर्खता-पूर्ण उपाय के भयंकर परिणाम का ख्याल नहीं होता। परन्तु कई नौकरों तथा नौकरानियों को उन्हें सौंपे गये बच्चों के गुह्य-अंगों से खेलने में आनन्द आता है और वे ही अपनी वासना की तृप्ति के लिये कोमल-हृदय बच्चे के मन को दूषित कर देते हैं। इस की ज़िम्मेवारी जहाँ नौकरों पर है वहाँ माता-पिता पर भी कम नहीं है। उन्होंने अपना काम नौकरों के सुपुर्द कर अपने बच्चे के जीवन को तबाह कर दिया। प्यारे बालक ! सचमुच वह घड़ी तेरी बद-नसीबी की थी

जब तेरे माता-पिता ने तुझे अपने हाथों से किंसी नौकर के सुपुर्दं भिया—उन मूर्ख माता-पिताओं को मालूम होना चाहिये था कि वे अपने ख़जाने की चाबी नौकरों के हाथ देदेते तो शायद इतना नुकसान न होता जितना उन्होंने एक जीवित आत्मा को नौकरों के हाथ देदेने से कर दिया। परन्तु नौकरों को ही क्यों कोसा जाय ? कई माता-पिता तथा बच्चे के अन्य सम्बन्धी स्वयं ऐसे आँख के अन्धे होते हैं कि बच्चे की जननेन्द्रिय के साथ खेलते हैं और खिड़-खिड़ ढाँत निकालते हैं। इस में सन्देह नहीं कि उन के दिल में बच्चे को बुरी आदर्ते सिखाना नहीं होता, परन्तु वे इतने जाहिल होते हैं कि उन्हें अपनी बेवकूफ़ी का ज़रा-भी रुग्याल नहीं आता। दुर्भाग्यवश, इन कुचेष्टाओं की शिक्षा बच्चों को जन्मते-ही मिलनी प्रारम्भ होती है और इस के शिक्षक वे लोग होते हैं जो, यदि उन्हें मालूम होता कि वे क्या कर रहे हैं तो, अपनी पापमय मूर्खता के लिये प्रायशिच्त करते। उस छोटे से बच्चे के गिर्द,—आह ! उस बच्चे के गिर्द जिस की रक्षा करना सब का कर्तव्य था—उसीके माता-पिता, सम्बन्धी, नौकर-चाकर सब मिल कर इकट्ठे हो जाते हैं ! किसलिये ?—षड्यन्त्र रच कर उसे कुचेष्टाओं का पाठ पढ़ाने के लिये, उस का जीवन-धन लुटाने के लिये, उसे मलियामेट क़रने के लिये ! ‘सम्बन्धी’ कहलाने वाले इन राज्ञियों और पिशाचों में घिरा हुआ बालक यदि बच निकले तो, वस, चमत्कार ही समझना चाहिये। ये लोग बच्चे की काम-वासना को जगाने में क्या-कुछ उठा रखते हैं ? यदि उस

के अभी बहुत छोटा होने के कारण प्रवृत्ति नहीं जागती तो वह प्रकृति की तरफ से बालक की रक्षा है, इन्हें ने उसके सर्वनाश में क्या कमर छोड़ी? क्या यह कह देने से कि उनका उद्देश्य बुरा नहीं होता, वे केवल बालक को प्रसन्न करना चाहते हैं, बचाव हो सकता है? आग से खेलने वाले के उद्देश्य को कौन पूछता है? उद्देश्य तुम्हारा ताक में धरा रह जायगा और तुम्हारी करतूत थोड़े-ही दिनों में वह विकराल रूप धारण कर लेगी कि तुम दाँतों तले ऊँगली दबाते रह जाओगे! तुम्हारी जहालत का नतीजा थोड़े-ही दिनों में तुम्हारी आँखों के समाने आ जायगा!

(५) घर छोड़ कर बालक स्कूल में जाता है। अफ़सोस! वहाँ का बातावरण भी उस के भोलेपन का; उस की जवानी का दुश्मन है। कई लोग यह सुन कर चौंक जायेंगे, और कई इस बात की हासी भरते हुए शान्त रहेंगे, क्योंकि सचमुच आजकल के स्कूल बच्चों के आचार को नष्ट करने के मुख्य स्थान और मुख्य साधन हैं। स्कूल-मास्टर किताबें लेकर पढ़ता है, और ऐन उस की आँखों के नीचे लड़का अपनी कब्र खोद लेता है और ‘दियें तले अँधेरा’ वाली उत्तिको चरितार्थ करता है। स्कूल में किताबें पढ़ाई जाती हैं और इन्डिहान की तथ्यारी करायी जाती हैं परन्तु स्कूल की चहार-दीवारी की अन्धेरी गुफाओं में ही शैतान ख़म ठोक कर अपने चेलों को तैयार करता है। हज़ारों निर्देश बालकों की आत्मा स्कूल के कमरों में प्रविष्ट होते समय शुद्ध तथा पंचिं द्वारा होती है परन्तु अफ़सोस! उन कमरों से निकलते

समय वे हस्त-मैथुन की भयंकर महामारी के शिकार बन चुके होते हैं। स्कूलों के आत्मिक अध्यःपतन की कहानियाँ नई नहीं, पुरानी हैं; ऐसी-ऐसी हैं जिन्हें सुन कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं! हेवलाक इलिस महोदय ने अपनी पुस्तक 'सैनुश्रुल सिलेक्शन इन मैन' नामक पुस्तक में एक व्यक्ति की आत्म-कथा इस प्रकार दी है:—

“मैं दस वर्ष की आयु में स्कूल में भर्ती हुआ। वहाँ स्कूल के गन्दे बातावरण में प्रचलित हुई-हुई कुचेष्टाओं की बात-चीत मेरे कान में भी पड़ी। मुझे इस से बचाने वाला—चेतावनी देने वाला—कोई न था। मैंने इन बातों में हिस्सा लेना शुरू किया और शीघ्र ही हस्त-मैथुनादि की आदत से परिचित हो गया। मैं हाय से अपने को ख़राब न करता था, उल्टा लेट जाता था। खुले तौर पर तो सभी लड़के हस्त-मैथुन को स्कूल में बुरा कहते थे परन्तु अन्दर-ही-अन्दर इस का बड़ा प्रचार था। इस स्कूल को छोड़ कर मुझे अन्य दो स्कूलों में जाना पड़ा, उन में भी यह आदत बहुत फैली हुई थी। लड़के अक्सर इस विषय की चर्चा किया करते थे, इस के हानि-लाभ पर भी विचार करते थे और अधिक तर यही समझा जाता था कि यह बुरी लत है। एक दिन अचानक मेरे कान में कुछ भनक-सी पड़ी, जिस से मुझे विद्यास होने लगा कि लड़कों के इस कथन में कि हस्त-मैथुन मनुष्य को कमज़ोर बना देता है, सत्यता अवश्य है। वह भनक यह थी कि बचपन में किये गये हस्त-मैथुन के परिणाम बड़ी

उम्र में जाकर प्रकट होते हैं। उस समय मुझे सूक्ष पढ़ा कि मुझे यह आदत छोड़नी होगी, परन्तु मेरे दिल में इस बात का डर बना रहा कि इतनी छोटी उम्र में इस आदत का शिकार बन जाने के कारण मुझे काफ़ी हानी पहुँच चुकी है।

“यद्यपि मेरा इस आदत से छुटकारा हो गया तथापि इतनी छोटी उम्र में गिर जाने के कारण मैं कई वीमारियों का शिकार बन गया। परन्तु स्कूल में रहते हुए मैं उन दुःखों को मुँह से निकालते हुए भी डरता था यद्यपि उनके कारण मेरा हृदय बैठा जाता था और नर्से टूटी जाती थीं। परिणाम और भी भयंकर हुआ। ज्यों-ज्यों मैंने इस विषय पर पुस्तकें पढ़नी शुरू कीं, उन में लिखे हस्त-मैथुन के दुष्परिणामों को पढ़ा, और इस पाप के लिये प्रकृति-देवी जिस निष्ठुरता से कठोर दराढ़ देती है यह सब कुछ पढ़ा, तो मेरा हृदय काँप उठा! स्कूल छोड़ने पर भी मेरा जीवन इसी प्रकार चलता रहा। चरित्र-सुधार के लिये हृदय में प्रबल भाव उठता, पिछले किये हुए पाप मूर्तिमान होकर डरावनी शक्ति में सामने खड़े हो जाते, कँपकँपी छूटती, पश्चात्ताप होता और हर समय पागल हो जाने का डर बना रहता। परन्तु जिस बात से मेरी जान निकली जाती थी वह यह थी कि मुझे धीरे-धीरे पता चला कि अभी मेरा हस्त-मैथुन की आदत से पूरा-पूरा छुटकारा नहीं हुआ था। जहाँ तक मेरी जागृत-चेतना का सम्बन्ध था, मैं इस आदत से छूट चुका था; काम-वासना चाहे कितनी भी प्रबल क्यों न होती मैं उसके वशीभूत न होता था; परन्तु

एक रात मैंने देखा कि सोने तथा जागने के बीच की अवस्था में जब मनुष्य शर्धनिद्रित होता है, जब चेतना पूरी चैतन्य नहीं होती, मैं इस आदत का शिकार बन रहा था। ऐसा प्रतीत हुआ कि दैवी तथा आसुरी भावों में घनघोर संग्राम हो रहा है और आसुरी भाव दैवी भावों को ढ़वा रहे हैं। शायद यह अनुभव मेरा ही नहीं; जो भी इस कश्मकश में पड़े होंगे, सभी का होगा, परन्तु मुझे अपनी यह अवस्था देख कर अत्यन्त दुःख हुआ। इस आदत से छुट्कारा पाने के लिये मैंने अनेक उपाय किये। अन्त में मैं अपने को इस प्रकार बांध कर सोने लगा जिस से उल्टा न हुआ जा सके और इस उपाय से मुझे इस बुरी लत से छुट्कारा पाने में बहुत कुछ सहायता मिली।”

उक्त जीवन-कथा के साथ निम्न जीवन-वृत्तान्त भी कम शिक्षाप्रद नहीं है। यह भी उसी प्रस्तुक से लिया गया है:—

“मैं ७ या ८ वर्ष का था। मेरे मन, वाणी तथा कर्म में किसी प्रकार की अपवित्रता का लेश मात्र भी न था। अपने गाँव के एक स्कूल में मैं पढ़ने जाया करता था। वह, इस स्कूल में ही मेरे हृदय में उन भावों का बीज बोया गया जिन्हें पीछे से जाकर मैं पहचान सका कि वे कामुकता के भाव थे। अपने ही साथ के एक लड़के की तरफ मेरा खास झुकाव होने लगा। वह मेरी ही ही उम्र का था। मुझे वह बड़ा रूपवान् दीख पड़ता था। मेरे हृदय में उस समय उस लड़के के सम्बन्ध में क्या २ भाव उठते थे इस का मुझे पूरा-पूरा ज्ञान नहीं। हाँ, इतना स्मरण

अवश्य है कि मैं उस के पास रहना चाहता था, कभी-कभी उसे चूम लेने की इच्छा भी होती थी। यदि वह अन्नानक मेरे सामने आ जाता तो मुझे शर्म आ जाती, यदि वह मेरे साथ न होता तो मैं उसी के विषय में सोचा करता और उन मौकों की ताक में रहता जिन में उस से फिर भेट होने की आशा होती। यदि वह मुझे अपने साथ खेलने के लिये निमन्त्रित करता तो मेरी खुशी का ठिकाना न रहता।.....

“एक परिवार के सात भाई उसी स्कूल में पढ़ने आया करते थे, हम सब लोग बैठ कर आपस में गन्दी-गन्दी कहानियाँ एक दूसरे को सुनाया करते थे।.....

“जब मैं दस वर्ष का हुआ तो मैंने अपने पिता के गाड़ी-वान से बहुत कुछ गन्द सीखा। १२ वर्ष की आयु में मुझे एक प्राथमिक पाठशाला में भेजा गया। मुझे रहना भी वहीं होता था। छुट्टियों में मैं घर पर अपने पिता के चपरासी से कामुकता सम्बन्धी बात-चीत किया करता था। उस ने मुझे बहुत कुछ बतलाया होगा। इस समय मुझे उत्तेजना होने लगी थी। एक दिन जब सब लोग घर से बाहर गये हुए थे, मैं अकेला घर में विस्तर पर लेटा हुआ था, वह नौकर अन्दर बुस आया। इस समय मैं अकेला पड़ा हुआ कामुकता के विचारों में लीन था और उत्तेजितावस्था में था। उस ने मुझे गिराने की कोशिश की। पहले मैंने प्रतिरोध किया, परन्तु फिर मैं प्रलोभन के सम्मुख गिर गया। कुछ देर बाद वह मुझे छोड़ कर चला गया। मेरा

दिमाग् इतना उत्तेजित हो उठा कि मेरे लिये सोना मुश्किल हो गया । मुझे अनुभव होने लगा कि मेरे सन्मुख एक आनन्द-दायक रहस्य खुल गया । वह, फिर क्या था, मैं हस्त-मैथुन करने लगा । मुझे याद नहीं कि मैं कितनी बार अपने को ख़राब करता था— शायद सप्ताह में एक या दो बार । पीछे से मुझे स्वयं अपने से शर्म आने लगती । हस्त-मैथुन के बाद कभी-कभी जननंनिद्रिय में और कभी-कभी अरण्डकोशों में ढूँढ़ होता, परन्तु लज्जा का भाव तो सदा ही बना रहता । लज्जा का भाव कैसा था ? —दिल इस बात से बेचैन होता था कि मैंने वह काम किया है जिसे सब बुरा समझते हैं । मैं जानता था कि मेरे अधः-पतन को मुझे छोड़ दूसरा कोई नहीं जानता, परन्तु जिस से भी बात करता, ऐसा अनुभव होता जैसे उसे सब कुछ मालूम है, दिल तक की पहचानता है परन्तु मेरी इङ्जत रखने के लिये कुछ नहीं बोलता । मुझे यह डर भी लगने लगा कि इस से मैं अपने स्वास्थ्य को हानि पहुँचा रहा हूँ । एक दिन मेरे अध्यापक ने मुझे बुला भेजा । उस ने मुझे कहा कि मेरे विस्तर पर उस ने एक दाग् देखा है । इस समय मुझे स्वप्न-दोष होने लगा था । मुझे याद नहीं रहा कि यह दाग् स्वप्न-दोष का था, या हस्त-मैथुन का । जब उस ने कहना शुरू किया कि इस दाग् का होना मेरे पतित होने का प्रमाण है तो मैंने स्वीकार कर लिया । उस ने मुझे कहा कि इस से मेरा स्वास्थ्य विगड़ जायगा, सम्भवतः दिल कमज़ोर हो जायगा या दिमाग् ख़राब हो जायगा । उस ने

मुझ से शपथ लेने को कहा कि आगे से ऐसा नहीं करूँगा । मैंने शपथ ले ली । मुझे अपनी नीचता पर दुःख हुआ, लज्जा आयी और उस के परिणामों को सुन कर मैं काँप उठा । मेरा अध्यापक कभी-कभी मुझे बुला कर पूछ लेता था कि मैं अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहा या नहीं । कई महीनों तक मैं बचा रहा । परन्तु फिर मैं इस आदत के सामने झुक गया और जब मुझ से पूछा गया तो मैंने अपनी कमज़ोरी को स्वीकार कर लिया । अन्त में अध्यापक ने मुझे बुला कर पूछना भी छोड़ दिया ; या तो उस ने समझा होगा कि मैं अब ठीक हो गया हूँ या उस की यह धारणा हो गई होगी कि मेरा सुधरना ही नामुमकिन है ।”

पाठक ! इन अनुभवों के साथ अपने जीवन की नोट-बुक मिला कर देखो । क्या इन अनुभवों में तुम्हें अपने जीवन की घटनाओं की प्रति-ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती ? क्या तुम भी ग्रीष्म-ऋतु की किसी सायंकाल, या एकान्त में लेटे हुए किसी दिन, किसी पापिष्ठ नौकर के चुँगल में तो नहीं पड़ गये थे, अपने स्कूल के ही किसी साथी के शिकार तो नहीं बन गये थे ? क्या तुम्हें याद नहीं कि पहले-पहल तुम में प्रतिरोध करने की इच्छा वैग से उठी थी—तुम ने सारा बल लगा कर बचने की कोशिश की, परन्तु, अफ़सोस, तुम्हारे शिकारी ने अपना पड़ा ढीला न होने दिया । आह ! आत्मा की निर्बलता का वह क्षण, देव तथा असुर भाव का वह संग्राम ! तुम ने उस समय अपने को ढीला छोड़ दिया ! पत्ते को आँधी उड़ा ले गई, तिनके को

दरिया बहा ले गया ! इस गिरावट के अगले क्षण तुम्हारी क्या अवस्था हुई थी ?—लज्जा के मारे तुम ज़मीन में गड़े जा रहे थे ; यह लज्जा नहीं लज्जा का ज्वर था ! क्या उस समय तुम्हें अपने अन्तरात्मा से घृणा नहीं हो गई थी ? क्या उस समय तुम ने पश्चात्ताप-पूर्ण हृदय से परमात्मा के सन्मुख हाथ जोड़ कर निस्सहाय अवस्था में यह प्रार्थना नहीं की थी कि यदि फिर दुबारा तुम्हारे आत्मा की पवित्रता पर ऐसा ही हमला हो तो शक्तिमान् भगवान् तुम्हें उच्च-स्वर से 'नकार' कहने की शक्ति दें ? और क्या फिर परीज्ञा का अवसर उपस्थित नहीं हुआ ; और क्या उस समय भी प्रतिरोध, प्रलोभन की प्रवलता तथा अन्त में तुम्हारी लज्जा-जनक हार नहीं हुई ? क्या उस समय तुम पर लज्जा का पहाड़ नहीं ढूट पड़ा ? क्या उस समय तुम में अपने मुख को दर्पण में देखने की शक्ति रह गई थी ? और क्या यह किस्सा तुम्हारे जीवन में ज़ार-ज़ार दोहराया नहीं जाता रहा ? यहाँ तक कि अन्त में तुम्हारी प्रतिरोध-शक्ति सर्वथा नष्ट हो गई और तुम इस घातक आदत के पूर्णतया दास हो गये ? ऐसे क्षण भी आये जब कि तुम ने इस आदत से छुटकारा पाने के लिये हाथ-पाँव मारे, शायद कभी-कभी तुम ने समझा भी कि तुम छूट गये, परन्तु तुम्हारी निराशा, आश्र्वय और दुःख का पारावार न रहा जब तुम्हें एक भयंकर अँधेरी रात को यह मालूम हुआ कि अर्ध-निद्रित अवस्था में तुम इस आदत के गुलाम हो रहे थे ! ये अनुभव हैं जो प्रायः प्रत्येक नवयुवक को अपने जीवन में प्राप्त हुए होंगे !!

## मानसिक कारण

(१) अभी ऊपर काम-वासना को जागृत करने वाले भौतिक कारणों का उल्लेख किया जा चुका है। इस में सन्देह नहीं कि बालक की प्रारम्भिकावस्था में यदि काम की प्रवृत्ति जाग उठे तो उस में मन का इतना बड़ा हिस्सा नहीं होता जितना शरीर का, क्योंकि अभी मानसिक-विकास ही बहुत कम हुआ होता है। परन्तु धीरे-धीरे शारीरिक अवस्था का मन पर और मानसिक अवस्था का शरीर पर प्रभाव पड़ने लगता है। बड़ी आशु के व्यक्ति में शारीरिक उत्तेजन से मनोविकार तथा मनोविकार से शारीरिक उत्तेजन होने लगता है। “कभी-कभी हस्त-मैथुन केवल इन्द्रियों की घटना होती है, मन का उस में विलक्षुल दख्ल नहीं होता, व्यक्ति के मन में कोई लिंग-सम्बन्धी विचार नहीं होता, यह केवल एक शारीरिक क्रिया होती है, परन्तु ऐसी अवस्था प्रायः तभी तक रहती है जब तक मानसिक विकास नहीं हुआ होता। मानसिक विकास हो जाने पर शारीरिक उत्तेजना होते ही मन अपनी बनाई प्रतिमाएँ सामने ला खड़ी करता है। कभी किसी लड़के और कभी किसी लड़की का स्थाल दिल में ला कर वह हस्त-मैथुन का शिकार, अपना ही शिकार खेलने लगता है। लड़कियाँ भी अपने को ख़राब करती पायी गई हैं। केवल-शारीरिक हस्त-मैथुन—ऐसा, जिस में शारीरिक उत्तेजन तो होता है परन्तु मन-द्वारा कुछ नहीं सोचा

जाता—प्रायः वचों में ही पाया जाता है, जवानों में नहीं। जवान तो शरीर और मन दोनों की सहायता से अपना सर्वनाश करने पर तुल जाते हैं।” जवानी में हस्त-भैयुन अधिकतर मानसिक रूप धारण कर लेता है। प्रेमी की कल्पना कर मन में भिन्न-भिन्न प्रकार के संकल्प-विकल्प उठा कर जीवन को भार चढ़ा लेने वाले युवकों की कमी नहीं है। लड़के-लड़कियाँ ‘कुविकल्पों’—‘कुत्सित कल्पनाओं’—से अपने मन को ख़राब कर लेती हैं। गन्दी-गन्दी अश्लील तस्वीरों को देख कर जिन्हें प्रायः मूर्ख माता-पिता मकानों में लटकाते हैं, वज्चे के मन में तरह-तरह के गन्दे विचार उठने लगते हैं। भला माता-पिता के दिल में ही उन्हें देख कर कौन-से अच्छे विचार उठते होंगे? सम्यता का दम भरने वाले इस युग में मनुष्य का मन कितना गन्दा हो चुका है, यह देखना हो तो किसी स्टेशन के बुक-स्टाल पर विखरे हुए उपन्यासों के नाम पढ़ जाओ, उन की तस्वीरें देख जाओ, —वस, इतना ही इस युग का नग-चित्र आँखों के सन्मुख खींच देने के लिये पर्याप्त है। आज विद्यार्थी-जगत् में सनसनी पैदा करने वाली काल्पनिक घटनाओं का चित्र सर्वींचने वाले नाविल पढ़े जाते हैं और उन के पढ़ने में वे उन गन्दी घटनाओं का मज़ा लेने की कोशिश करते हैं। स्कूल के लड़कों की मखौलें सुनो, दीवारों पर लिखे उन के गद्य-पद्य मध्य वाक्य पढ़ो, मालूम हो जायगा कि हमारे वचों की कल्पना-शक्ति किस गन्द की दूलदूल में लतपत पड़ी है। कल्पना को गलाने वाला, उसे सङ्डाने

वाला, व्यभिचार और दुराचार का वायुमण्डल पैदा करने वाला हृश्य देखने के लिये लड़के नाटकों, सिनेमाओं और नाचघरों में जाते हैं, और फिर उन की जो अवस्था हो जाती है उस के लक्षण पूरे एक बीमारी के होते हैं। उन का दिमाग् कासुकता की गन्दी-से-गन्दी कल्पनाओं से इतना भर जाता है कि उन से 'इन्द्रिय-निग्रह' की आशा रखने वाला ही मूर्ख है। तभी प्राचीन काल में ब्रह्मचारी को जो उपदेश दिये जाते थे उन में यह भी होता था:—‘र्नतं गीतवादित्रं वर्जय’—नाचना, गाना, बजाना छोड़ दो—ये ब्रह्मचर्य जीवन के लिये नहीं हैं।

(२) ‘कुत्सित-कल्पनाएँ’ जहाँ एक और लड़कों को स्वराच करती हैं वहाँ दूसरी ओर ‘चिन्ता’ भी उन की जड़ खोखली करती रहती है। लड़कों के अनैसर्गिक मार्गों के अवलम्बन कर लेने का यह दूसरा कारण है। चिन्ता से मन पर एक बोझ-सा पह्ला जान पड़ता है। चिन्ता में हूबे हुए बालक हस्त-मैथुन की तरफ़ झुक जाते हैं क्योंकि इस से उन के स्नायु-तन्तुओं का स्विचाव कुछ देर के लिये ढीला हो जाता है। क्षणिक उत्तेजना हूबते हुए मन को कुछ चमका-सा देती है। चिन्ता के तनाव को मनुष्य अधिक देर तक वर्दाशत नहीं कर सकता, वह इस बोझ से अपने को हल्का करने का यही सस्ता उपाय हूँढ़ निकालता है, परन्तु उस भोले को मालूम नहीं होता कि कुछ क्षणों के लिये हल्का होकर वह अपनी मूर्खतावश पहले से भी भारी बोझ सिर पर लाद रहा होता है। वीर्यनाश से थोड़ी ही देर

में वह अपने को खोखला अनुभव करने लगता है, और पहली चिन्ता के साथ यह खोखलेपन की चिन्ता और बढ़ जाती है। डा० एलवर्ट मौल एक बीस वर्ष के युवक के अनुभव का उल्लेख इस प्रकार करते हैं:—

“उस का कथन है कि १६ वर्ष की आयु में उसे पहलीवार काम-भाव का अनुभव हुआ। इस से पहले भी उस के साथियों ने खी-प्रसंग, हस्त-भैशुन आदि की चर्चा उस से की थी, परन्तु उस ने कभी अपने को ख़राब नहीं होने दिया था। एक दिन जब कि वह ऊँची श्रेणी में पढ़ता था उसे गणित का एक प्रश्न हल करने को दिया गया। वह उस प्रश्न को हल न कर सका—इस से उसे चिन्ता होने लगी। उस का ऊँची श्रेणी में चढ़ना भी इसी पर आश्रित था, इस से चिन्ता और अधिक बढ़ी। अभी वह आधा ही सवाल हल कर पाया था कि अव्यापक ने ऊँची आवाज़ में कहा—‘१० मिन्ट बाकी हैं, इस के बाद उत्तर-पत्र ले लिये जायेंगे।’ इस पर उस की चिन्ता हट-दर्जे पर पहुँच गई और तत्काल उसने अनुभव किया कि उस का वीर्यपात्र हो गया था।”

एक और लड़के ने डा० एलवर्ट मौल को बतलाया कि एक बार वह श्रेणी में, विना-देखे किसी स्थल का, अनुवाद कर रहा था, और उसे डर था कि घटाया समाप्त होने से पहले वह उसे समाप्त न कर सके। इस की उसे इतनी चिन्ता बढ़ी कि वीर्य खलित हो गया। कई लोगों का, जो किसी गहरी चिन्ता के कारण अन्त में आत्म-हत्या कर बैठते हैं, चिन्ता से ही

वीर्य स्वलित हो जाता है। मन पर चिन्ता का भार जब बहुत बढ़ जाता है तो वह इसी प्रकार अपने बोझ को हल्का करता है। इसीलिये इम्तिहान के दिनों में चिन्ता से मारे हुए लड़कों के रात में कई-कई बार स्वप्न-दोष हो जाता है। वे बेचारे क्या जानें, इम्तिहान की चिन्ता उन के जीवन को कहाँ तक सुखा डालती है। यह भी कई लोगों का अनुभव है कि जब स्वप्न-दोष को रोकने की भारी चिन्ता की जाती है तब वे और अधिकता से होने लगते हैं। इस का कारण भी चिन्ता के सिवाय कुछ नहीं है। स्वप्न-दोष से बचने की 'चिन्ता' करने वाले व्यक्ति के लिये उस से बचना मुश्किल हो जाता है।

(३) 'बेकारी' भी मनुष्य के नैतिक-पतन में सहायक है। यह समझना कि मन बिना किसी संकल्प-विकल्प के खाली रह सकता है, मनोविज्ञान से अनमिज्ञता सूचित करना है। जब मनुष्य समझता है कि उस का मन खाली है उस समय भी मन में विचार—और प्रायः गन्दे विचार—चक्कर काटा करते हैं। जो लोग बेकार होते हैं, समझते हैं कि उन का मन खाली है, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि उस खालीपन का स्थान या तो 'कुत्सित-विकल्प' ले लेते हैं और या 'चिन्ता'; और ये दोनों ही मनुष्य को गिराने वाले शैतान के औजार हैं। एक बार ऋषि दयानन्द से पूछा गया कि उन्हें कामदेव सताता है या नहीं? ऋषि ने उत्तर दिया—हाँ, वह आता है परन्तु उसे मेरे मकान के बाहर ही खड़े रहना पड़ता है क्योंकि वह मुझे कभी खाली ही

नहीं पाता। औपि द्यानन्द कार्य में इतने व्यथ रहते थे कि उन्हें इधर-उधर की बातों के लिये फुर्रत ही नहीं थी, और यही औपि द्यानन्द के ब्रह्मचर्य का रहस्य था।

ओरे बालक! क्या तू वेकार धूमा करता है?—ओह! तब तो इस बात का डर है कि कहीं तू अनैसर्गिक आदतों का शिकार न बन जाय! इस में संदेह नहीं कि तुझ पर इस प्रकार का सन्देह करना तेरा अपमान करना है, परन्तु माफ़ करना, संसार का अनुभव यही कहता है। क्या तू शिकायत किया करता है कि तेरे पास समय नहीं? ओरे, लोगों को काहे को बहकाता है, तू समय का सदृप्योग ही नहीं करता, तेरे पास तो समय-ही-समय है! हम भारतीय, समय का मूल्य नहीं जानते। वेकारी में ही हमें आनन्द आता है। आलस्य हमारी नस-नस में छुसा हुआ है। समय का मूल्य समझने में हम सब से पिछड़े हुए हैं। नात्रल पढ़ने और यियेटर देखने की सम्प्य-समाज की वेकारी ने हमारे पाप को दुगुना कर दिया है। शैतान के साथ हमारी दोस्ती बढ़ती जाती है क्योंकि वेकारी तो शैतान की ही दासी है!

### परिणाम

मनुष्य-समाज के अख्याभाविक पतन के भौतिक तथा मानसिक 'कारणों' पर हम ने विचार कर लिया। अब हमें इस पतन के 'परिणामों' पर विचार करना चाहिये। हस्त-मैथुन अथवा अनैसर्गिक मैथुन के परिणामों को तीन भागों में बाँटा जा

सकता है:—शारीरिक ; मानसिक ; आत्मिक । अब हम इन का क्रमशः वर्णन करेंगे ।

### शारीरिक परिणाम

हस्त-मैथुन का परिणाम शरीर पर जो होना है सो तो है ही, परन्तु वह जननेन्द्रिय पर भी कम नहीं होता । इस प्रकार जो वीर्यनाश होता है उस से वीर्यवाहिनी प्रणालिका पूरी तरह खाली नहीं होती, और बचा हुवा अंश उस प्रणालिका में पड़ा-पड़ा सड़ता है और मूत्र-वाहिनी प्रणालिका में जलन उत्पन्न करता है । यह जलन कभी-कभी इतनी बढ़ जाती है कि इस आदत के रोगी को पेशाव में भी चिनक-सी होने लगती है । मूत्राशय का कार्य भी सुस्त हो जाता है और बार-बार पेशाव जाने की इच्छा होती है । इस जलन से दूसरे उत्पात भी उठ खड़े होते हैं । इन्द्रिय रह-रह कर उत्तेजित हो उठती है— उस उत्तेजना में भी दुःख होता है ; रात को सोते-सोते स्वप्न-दोष हो जाता है । जो इस आदत में बहुत आगे बढ़ जाता है उसे अनुभव होने लगता है कि पहले तो स्वयं उत्तेजना हो जाती थी पर अब चाहने पर भी इन्द्रिय शिथिल रहती है । यकी हुई नसें काम नहीं करतीं, उन्हें जगाने के लिये तीव्र उत्तेजक मार्ग का अवलम्बन करना पड़ता है । यके हुए घोड़े से लम्बा रास्ता तय कराना हो तो कस-कस कर कोड़े मारे जाते हैं । यह प्रकृति का ही नियम है । अब उस अभागे को हस्त-मैथुन से भी उत्तेजना नहीं होती, वह अन्य

अनैसर्विक उपायों को हूँढने लगता है। और जैसे अत्यन्त थके प्रोडे पर आखीरी कोड़ा पड़ता है, और उस की छटपटाते हुए जान निकल जाती है, इसी प्रकार उस थके हुए अभागे का भी या तो जीवन निशेष हो जाता है और या वह सदा के लिये पुरुषत्व को खो चैठता है। जननेन्द्रिय में चेतनता ही नहीं रहती और दिन को या रात को बिना चाहे वीर्य स्खलित होने लगता है। अब वीर्य-स्खलन में भी हर्ष का अनुभव नहीं होता। कईयों का वीर्य मूत्राशय में चला जाता है और उन्हें मूत्र-मेह हो जाता है। कभी-कभी ट्वी फिरते कतरे-कतरे कर के वह वह निकलता है। तुरी आदत का रोगी वास्तविक अर्थों में रोगी हो जाता है। यदि ऐसा आदमी विवाहित हो तो खी-प्रसंग होने से पूर्ण ही उस का वीर्य स्खलित हो जाता है। अपने इस पतन को देख कर उस के हृदय में अपने प्रति धृणा उत्पन्न हो जाती है और वह ब्रियों से भी डरने लगता है। उस में वीर्य धारण करने की शक्ति ही नहीं रहती। अरण्डकोशों पर भी बहुत ज्यादह बोझ पड़ चुका होता है, क्योंकि वहीं से तो वीर्य उत्पन्न होता है, अतः उन में भी दर्द होने लगती है। वीर्य-वाहिनी शिराएँ कमज़ोर हो जाती हैं, अरण्डकोश बहुत नीचे लटकने लगते हैं। गुद्ध-अंगों में ताकत नहीं रहती, वे ढीले पड़ जाते हैं, उन की नसें उभर आती हैं। एक शब्द में, हस्त-मैथुन से मनुष्य के उत्पादक-अंग अयोग्य हो जाते हैं और वह फिर हस्त-मैथुन के लायक भी नहीं रहता। वह जिस चीज़ का आनन्द

उठाना चाहता है उसी से उसे बन्धित कर दिया जाता है क्योंकि इस दिशा में रखा हुआ एक-एक कदम मनुष्य को नष्टसकता की तरफ़ ले जाता है।

इस के अतिरिक्त इस अनैसर्गिकता का जो प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है वह भी किसी से छिपा नहीं रहता। आस्थिर, शरीर के सधिर ही से तो वीर्य बनता है। जो वीर्यनाश करता है वह इस सधिर ही के कोश को खाली करता है और ज्यों-ज्यों यह आदत जड़ पकड़ती जाती है त्यों-त्यों सधिर में कमी आती जाती है। इसीलिये हस्त-मैथुन के शिकार को उन सब वीमारियों का शिकार भी बनना पड़ता है जो सधिर की कमी से होती हैं। सिर के बाल उड़ जाते हैं, सफेद हो जाते हैं, आँखों में ज्योति नहीं रहती, वे अन्दर धूंस जाती हैं और उन के ईर्द-गिर्द काला-काला धेरा बन जाता है। दाँत ख़राब होने लगते हैं, चेहरे पर रौनक नहीं रहती। बाती सिकुड़ जाती है, कन्धे झुक जाते हैं, हाज़मा विगड़ जाता है। नव बुद्ध पचता नहीं तब या तो कञ्ज हो जाती है या दस्त लग जाते हैं। शरीर भूखा-सा रहता है। क्षीण सधिर पुष्टि चाहता है; यह पुष्टि द्वा-द्वार से नहीं मिल सकती, वाजीकरण औषधियों से नहीं मिल सकती, यह मिलती है खुले द्वार को बन्द कर देने से, वीर्य की रक्षा करने से। हृदय में भी पर्याप्त सधिर नहीं पहुँच पाता, वह धड़कने लगता है और खून के न मिल सकने से फेफड़े भी क्षीण होने लगते हैं। अंतङ्गियों में भी खून की कमी हो जाती है,

उन में तरावट नहीं रहती और इसलिये दस्त खुल कर नहीं आता। मूत्राशय और गुदें की वीमारियाँ भी घर करने लगती हैं। शरीर के दूर-दूर के हिस्सों तक—हाथों और पैरों तक—पूरा-पूरा रुधिर नहीं पहुँच सकता, इसलिये वे ठरडे रहने लगते हैं। शरीर के जोड़—सिर, गर्दन, कन्धे, कोहनी, घुटने—दुखने लगते हैं, और यह सब कुछ खून की कमी से होता है। दोस्त देख कर अचम्भा करते हैं और पूछते हैं, तुम्हें क्या हो गया? प्रकृति ओध में आकर हस्त-मैथुन के अपराधी को ऐसा ढरड देती है जिस से वह अपने उत्पादक-अंगों का दुरुपयोग तो क्या, किसी प्रकार का उपयोग भी नहीं कर सकता। उस का यह अपराध क्या कम है कि परमात्मा की जिस देन से वह अपने आत्मा की उन्नति कर सकता था उसी को उस ने वेत-हाशा लुटाया! इस दुरुपयोग को देख कर प्रकृति अपनी देन वापिस ले लेती है और हमारी परिभाषा में उस मनुष्य को नपुँसक—अपाहिन—कोढ़ी—कहा जाता है!

एक प्रव्यात डाक्टर का कथन है कि हस्त-मैथुन से, अथवा अनैसर्गिक सम्बन्ध से, होने वाली वीमारियों की सूची पूरी-पूरी तय्यार ही नहीं की जा सकती। कामुकता के भाव की प्रचण्डता से मनुष्य की स्नायु-शक्ति का हास होता है, यह स्नायु-शक्ति वीर्य में रहती है, और वीर्य का एक औंस शरीर के किसी हिस्से के भी ४० औंस रुधिर के वरावर है। स्नायु-शक्ति के हास से मनुष्य का शरीर हरेक प्रकार की वीमारी को निमन्त्रण देने के

लिये हर समय तथ्यार रहता है। इस प्रकार जो वीमारियाँ शरीर में प्रवेश करती हैं उन का भी कारण मनुष्य का अस्याभाविक जीवन ही है। कामुकता से वीर्य तथा स्नायु-शक्ति दोनों का ह्रास होता है अतः 'आत्म-व्यभिचार' से वीर्य तथा स्नायु-सम्बन्धी अनेक उपद्रवों का उठ खड़े होना स्वाभाविक है।

इस प्रकारण में एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। जिन लक्षणों का वर्णन किया गया है, इस में सन्देह नहीं कि वे वीर्य-ह्रास के कारण उत्पन्न होते हैं, परन्तु इस का यह अभिप्राय नहीं कि जहाँ ये लक्षण दिखाई दें वहाँ अवश्य वीर्यनाश ही कारण है। कई अधकचरे विचारों के लोग किसी भी भलेमानस पर सन्देह करने लगते हैं। किसी को कञ्ज हुई तो फौरन सन्देह करने लगे, किसी को जुकाम हुआ तो फौरन उस के आचार पर उँगली उठाने लगे। ऐसे अन्ध-भक्तों ने ब्रह्मचर्य के कार्य को जो धक्का पहुँचाया है वह शायद उस के शत्रु भी न पहुँचावेंगे; ऐसे ही लोगों के कारण ब्रह्मचर्य बदनाम हो जाता है। इसी से तो ब्रह्मचर्य हौशा बन गया है। यह समझ रखना चाहिये कि जहाँ ब्रह्मचर्य से शरीर की रक्षा होती है वहाँ और कई कारणों से भी शरीर की रक्षा होती है; और जहाँ ब्रह्मचर्य-नाश से शरीर ख़राब होता है वहाँ और भी कई कारणों से शरीर ख़राब हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक हृष्ट-पुष्ट माता-पिता के व्यभिचारी पुत्र का शरीर दुबले-पतले माता-पिता के सदाचारी पुत्र से अच्छा हो सकता है, परन्तु इस का यह अभिप्राय नहीं कि हृष्ट-पुष्ट

अ्यभिनारी को देख कर हम उसे ब्रह्मचारी समझने लगें और दुनले-पतलं सदानारी को देख कर उसे अ्यभिनारी कहने लगें। ब्रह्मचर्य के यथार्थ भाव को न समझने वाले ऐसा ही करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त दूसरे भी कारण संपार में मौजूद हैं! ऐसे लोग या तो 'ब्रह्मचर्य' के अन्य भक्त चने रहते हैं और या दुनियाँ में अपने सिद्धान्तों को ठीक घटाते हुए न देख कर ब्रह्मचर्य की ही चिह्नी उड़ाने लगते हैं। इन दोनों सीमाओं से चनने के लिये ब्रह्मचर्य के यथार्थ भाव को अवश्य समझ लेना चाहिये।

### मानसिक परिणाम

मन का भौतिक-आधार मस्तिष्क है। मनद्वारा सोचने की प्रत्यक्ष-क्रियाएँ मस्तिष्क में ही होती हैं। अतः किसी भी चीज़ के मन पर हुए प्रभाव का अभिप्राय मस्तिष्क पर पड़े प्रभाव से ही समझना चाहिये। जिस बुरी आदत की चर्चा हम कर रहे हैं उस का शरीर के अतिरिक्त मन, अथवा मस्तिष्क पर भी बहुत गहरा तथा विस्तृत प्रभाव पड़ता है। मस्तिष्क मनुष्य के जीवन का केन्द्र है—उस के बिना वह न हिल-जुल सकता है, न सोच-समझ सकता है। वह बड़ा कोमल भी है। हस्त-मैथुन का मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव पड़ता है। अनेक जन्तु ऐसे देखे गये हैं जिन पर मैथुन का इतना ह्वासकारी असर होता है कि मैथुन की अवस्था में ही उन के प्राण-पखेल उड़ जाते हैं। कहीं

पशु मैथुन में इतने स्नायु-शक्ति-हीन हो जाते हैं कि यकावट के पारे वे एक तरफ़ को गिर पड़ते हैं। इस से दिमाग् को इतना ज़ुवंदंस्त धक्का पहुँचता है कि प्रणय की प्रथम-रात्रि में ही कईयों की मृत्यु हो जाती है। इस विषय में तो सम्मति-भेद हो ही नहीं सकता कि किसी प्रकार का भी मैथुन अत्यन्त यकांन वाला, स्नायु-शक्ति को जर्जरित कर देने वाला कार्य है। इस में शरीर की नस-नस, पट्ठा-पट्ठा, हरेक हिस्सा, मानसिक भाव—सब पर इतना दबाव पड़ता है कि मालूम पड़ता है, शरीर को किसी ने जड़ से हिला दिया। खी-पुरुष के नियमित-प्रसंग में, जब दोनों पूर्ण आयु के हो चुके हों, वीर्यनाश से जो हानि होती है उस की बहुत-कुछ पूर्ति दोनों में एक-दूसरे के लिये उठने वाले प्रेममय मनोभावों से हो जाती है; कईयों का तो कथन है कि उन्हें शारीरिक दृष्टि से भी लाभ ही पहुँचता है, परन्तु हस्त-मैथुन से तो हानि के सिवाय और किसी वात की सम्भावना ही नहीं है। इस के विपरीत, आत्म-नलानि का भाव आत्मा को धिक्कार ही बतलाता है। म० हैविलाक इलिस महोदय 'साइकोलौजी थ्रॉफ़ सेक्स' के प्रथम खण्ड के २५३ पृष्ठ पर लिखते हैं:— “पंति-पत्नी में से जिस का भी चुम्बन किया जाता है उसी में अभिमान, आत्म-गौरव तथा आत्म-सन्तोष के भाव का उदय होता है। यह भाव, जो आत्मा को उच्चत बनाने वाला है, आत्म-व्यभिचार के घृणित कृत्य में नहीं उठ सकता। आत्म-व्यभिचार के विरुद्ध सब से बड़ी मनोवैज्ञानिक युक्ति यह है कि इस से प्रेम

की उत्कट भावना तृप्त ही नहीं होती। आत्म-व्यभिचारी प्रेम को ढूँढ़ने और उसे पाने की जगह उस से भागता है। प्रेम का भाव जहाँ आत्मा को उठा सकता था वहाँ यह भाव आत्मा को गिरा देता है।” इलिस महोदय ने गौड़फ्रें की ‘सायन्स’ आँफ़ सेक्स’ पुस्तक का निष्ठ उद्धरण भी इस स्थल पर दिया है। गौड़फ्रें अपनी पुस्तक के १७८ पृष्ठ पर लिखते हैं:—“यद्यपि आत्म-व्यभिचार जननेन्द्रिय की ही एक क्रिया है तथापि इसे ऊँचे श्रयोंमें, अथवा साधारण श्रयोंमें भी, ‘सैन्हुअल एक्ट’ (काम-क्रिया) नहीं कहा जा सकता। ‘सैक्स’ (काम) शब्द में द्वित्व का अभिप्राय शामिल है जो हस्त-मैथुन में नहीं होता। श्री-पुरुष के प्रसंग में जो शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक सहयोग पाया जाता है, और जो सहयोग ही वास्तव में उन के जीवन में स्थिरता तथा सुन्दरता का सञ्चार करता है, वह हस्त-मैथुन में कहाँ? अतः एक दृष्टि से हस्त-मैथुन को ‘सैन्हुअल लाइक़’ (काम-जीवन) का अभाव कहा जा सकता है—इसे ‘सैन्हुअल-एक्ट’ (काम-क्रिया) कहना ही ग़लती है।”

मनुष्य के मन में काम-भाव उठ खड़ा होता है, इस में सन्देह नहीं। परन्तु हस्त-मैथुन उस भाव को शान्त करने का हर्गिज़ उपाय नहीं है। कामना किसी दूसरे के लिये होती है; हस्त-मैथुन में दूसरेपन का ही अभाव है, अतः इस का कामना से कोई सम्बन्ध ही नहीं है, और न ही इस से कामना का सवाल हल ही होता है। हाँ, इस से कामना नष्ट ज़्यादा होती

है, और कामना के नाश का ही दूसरा नाम नपुँसकता या नामदीर्घ है। जान-बूझ कर किसी प्रकार के भी वीर्यनाश से दिमाग् खोखला हो जाता है, जीवन की धारा सूख जाती है। 'सैन्ह-अल सायन्स' पुस्तक के निम्न उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा कि मस्तिष्क तथा वीर्य का पारस्परिक सम्बन्ध कितना धनिष्ठ है:—

“मैथुन करते-करते कई वृद्धों की मृत्यु होती देखी गई है और मृत्यु का कारण छोटे-मस्तिष्क का निश्चेष्ट हो कर मूर्ढी में आ जाना होता है। रानहर्न्स का कथन है कि ४० वर्ष के एक व्यक्ति को विवाह की पहली रात्रि में ही मूर्ढा आ गई। इलाज करने पर वह अच्छा तो हो गया परन्तु अपनी इच्छाओं पर कावून रख सकने के कारण जब उस ने अपने को खुलाछोड़ा तो फिर मूर्ढी का दौर हुआ और उस की मृत्यु हो गई। सर्स एक ३२ वर्ष के आदमी का ज़िक्र करता है जिसे मैथुन की अवस्था में ही मूर्ढा आ गई। वह उस से पहले द्वादश शराब के प्याले-पर-प्याले चढ़ा रुहा था। मृत्यु के समय तक उसे उत्तेजना बनी रही। जब उस का शवच्छेदन किया गया तब उस के छोटे-मस्तिष्क के मध्य-खण्ड में सूजन के चिन्ह दिखाई दिये, मस्तिष्क-तत्व कई जगहों से फटा हुआ भिला और दिमाग् के अन्दर की कई ऐलियों में रुधिर भरा हुआ पाया गया। एन्ड्रूल ने एक ५०. वर्ष के आदमी का ज़िक्र किया है जिसे किसी वैश्या के घर से बाहर निकलते ही मूर्ढा आ गई। उसे हस्पताल लाया गया। वहाँ जाकर वह मर गया। मस्तिष्क चौर कर देखने से ज्ञात हुआ कि उस का

छोटा-मस्तिष्क सारा खराब हो गया था और उस का कुछ-कुछ प्रभाव बड़े-दिमाग पर भी होने लगा था। सेरीज़ ने भी एक विपरी आदमी का उल्लेख किया है। वह एक दिन किसी वेश्या के घर में गया और उस के बाद दो दिन में मर गया। उस के दिमाग को चीरने से छोटा-मस्तिष्क में रक्त-संचय पाया गया। डा० गियोट ने एक ५२ वर्ष के विपरी वृद्ध का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसे मस्तिष्क में रक्त-संचय के आक्रमण कई बार हुए, उस का शरीर हृष्ट-पुष्ट था इसलिये कुछ दिनों तक तो वह सब बर्दाशत करता रहा परन्तु अन्त में पागल हो गया। उसे की चीमारी जल्दी-जल्दी बढ़ने लगी, नीचे के हिस्से में अधर्मिता हो गया और १२ बर्षों में ही वह बेचारा चल बसा। डेलैन्डीज़ एक लड़की का उल्लेख करता है। वह बचपन में ही कुसंगति में पड़ गई थी और अन्त में वेश्या बन गई। उस के गुह्यांगों में इतनी जलन होती थी कि सूजन उत्पन्न हो गई। उस का कुछ इलाज भी न हो सका। अन्त में मृत्यु ने उस का इस दुःख से निस्तार किया। दिमाग चीरने से देखा गया कि उस का छोटा-मस्तिष्क संधिर-शून्य होने के कारण स्पर्श में कठोर हो गया था। इसी लेखक ने एक २० वर्ष के युवक का उल्लेख किया है। वह छुट्टेपन से ही हस्त-मैथुन का शिकार हो गया था। सब उपाय कर लिये गये थे परन्तु उस की यह आदत छूटती ही न थी। उसे कभी-कभी मृगी का दौर होता था। वह एक हस्पताल में भर्ती हो गया। इस समय उस का वीर्यनाश होना बन्द न हुआ। अन्त में तीन

महीने के बाद वह चिलकुल सूख कर मर गया। चीरने पर उस के छोटे-दिमाग में एक गाँठ पायी गई। एक दस वर्ष की लड़की जिसे हस्त-मैयुन की लत पड़ गई थी एकान्त-प्रिय तथा दुःखित-सी रहा करती थी। चार महीने तक उस के सिर-दर्द होता रहा जो कि अन्त में इतना बढ़ा कि वह तीन हफ्ते तक लगातार दिन-रात रोती रही और अन्त में मर गई। मरने से पहले उसे हृस्पताल पहुँचाया गया। डाक्टर लोग पूछ-ताछ करने पर केवल इतना जान सके कि वह १२ दिन तक विस्तर में ही पड़ी रही थी, बार-बार उसे पित्त की कथ आती थी, हर समय ऊँथती रहती थी, चारों तरफ के लोगों का उसे कुछ ख्याल तक न रहता था। उस का सिर हर समय नीचे लटका रहता था, और हाथ सिर पर पड़े रहते थे। मरने से चार दिन पहले वह प्रगाढ़ निद्रा में सो रही थी, प्रकाश का उसे कुछ ज्ञान न था, कभी-कभी आँखें शोड़ी-सी खोल देती थीं। उस का छोटा-मस्तिष्क चीर कर देखा गया तो ऊपरला हिस्सा तो सारे-का-सारा सङ्घँड से भरा हुआ था और बाकी हिस्सा भी कुछ-कुछ गल-सा गया था। कोम्पेट ने एक ११ वर्ष की लड़की का उल्लेख किया है। उसे भी यही लंत थी और इसी के कारण उस का छोटा-मस्तिष्क चिलकुल सङ्घ-गल गया था। जो हिस्सा पूरा नहीं गला था वहाँ लिसलिसी भिल्ली आभी शेष थी।”

ऊपर जिन शल्य-तन्त्र सम्बन्धी दृष्टान्तों का उल्लेख किया गया है, उन से स्पष्ट है कि ऐसी कठोर काम-क्रिया का,

जैसी कि हस्त-मैथुन में पायी जाती है, मस्तिष्क तथा स्नायु-मण्डल पर सीधा असर पड़ता है। जो हस्त-मैथुन से वीर्य-नाश करता है उसे समझ रखना चाहिये कि वह अपने मस्तिष्क के तत्व को बहा रहा है और इसीलिये जिसे यह लत पड़ जाती है वह बुद्धि-सा प्रतीत होने लगता है, उसे मृगी तथा इसी प्रकार के अन्य मानसिक रोग धेर लेते हैं। उस के जीवन का रस सूख जाता है, उस की हँसी में भी अस्वाभाविकता आ जाती है। हर समय सिर नीचा किये काल्पनिक अपार दुःख सागर में गोते खाते रहने की उसे बीमारी-सी हो जाती है। इस से बचने के लिये वह नान्-रंग में जाने लगता है। शराब की आदत भी जल्दी ही पड़ जाती है क्योंकि इस के कुछ देर के नरों में तो वह अपने दुःखों को ढुबो सकता है। इस प्रकार उस के सर्वनाश के लिये राजपथ खुल जाता है। दुःखों की गठरी को वह शराब में ढुबोता है और शराब से गठरी का भार और बढ़ जाता है—उस, एक सनातन चक्र चल पड़ता है। रुह हर वक्त मरी रहती है, निराशा छाई रहती है, —इस लत के शिकार को आशा की कोई क्रियण ही नहीं दिखाई देती। चिन्ता उस के मस्तिष्क पर अपनी छाप लगा देती है। आत्मक शान्ति, शायद सदा के लिये, उसे अलविदा कह देती है। लड़के, जो अपनी कक्षा में आगे रहा करते थे, पिछड़ने लगते हैं। साथी लोग आश्र्य करते हैं, अध्यापक परेशान हो जाते हैं, माता-पिता कुछ समझ नहीं सकते, पर जिस ने शारीर-शास्त्र का अध्ययन किया है उसे कोई

अचम्भा नहीं होता क्योंकि वह सब बातों से वाकिफ़ होता है। विद्यार्थी के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने ध्यान को केन्द्रित कर सके, यही तो स्मृति-शक्ति है। बुरी राह पर पड़ा हुआ लड़का ध्यान को भी केन्द्रित नहीं कर सकता। यही तो कारण है, इतने लड़के स्कूलों में दासिल होते हैं पर दूसरी श्रेणी तक पहुँचते-पहुँचते बहुत थोड़े रह जाते हैं। गन्दी आदतें उन्हें आगे कढ़ाय नहीं रखने देतीं, पीछे खींच लेती हैं। लड़का किताब लेकर पढ़ने बैठता है पर संकल्प-विकल्पों के ताने-बाने से बनी गन्दी-गन्दी तस्वीरें उस के मानसिक नेत्रों के सम्मुख उठने लगती हैं। और फिर,—ओह ! फिर कहाँ पुस्तक, कहाँ पाठ, कहाँ क्षास और कहाँ अध्यापक—इस १४-१५ वर्ष की उम्र में प्रायः सब लड़कों में स्कूल छोड़ कर भाग खड़े होने की प्रवल अभिलाषा उठ खड़ी होती है। बाजारों में जाकर देखो, गली में किटने सिर दरिया की लहरों की तरह ऊपर-नीचे उठते हुए नज़र आते हैं ! इन में से तीन-चौथाई लड़के स्कूलों में दासिल हुए थे, परन्तु जवानी की उसी अन्धी उमंग में ये सब स्कूल छोड़ बैठे थे।

जैसा किसी पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है, छोटा-मस्तिष्क ही कामुकता तथा शारीरिक गतियों को नियन्त्रित करने का केन्द्र है। क्योंकि कामी आदमी विषय में अधिक प्रवृत्त होता है अतः उस का छोटा-मस्तिष्क शीघ्र ही थक जाता है। परिणाम यह होता है कि उस के जोड़ों में ढर्ड होने लगता

है और वह चलने में लड़खड़ाता है। उस की सभी ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियाँ ज्ञाण हो जाती हैं। बुद्धू तथा मृगी का मारा वह समाज पर और शृणिवी पर भार हो जाता है। ऐसे ज्ञाण भी आते हैं जब वह अपने लिये ही अपने को बोझ समझने लगता है और किसी निराशा के आवेश में आकर अपने-ही हाथों अपना काम तपाम कर बैठता है।

‘इन्द्रिय-नियंत्रण’ के अभाव का परिणाम बुरा होता है। रीढ़ में दर्ढ़ रहता है, गठिया सताने लगता है। अधीर्णग-रोग स्नायु-सम्बन्धी ही तो वीमारी है और यह अति-मैयुन तथा अनैसर्गिक-मैयुन से हो जाती है। वीर्यनाश से मस्तिष्क खोखला होने लगता है, रात को नींद नहीं आती और इसी प्रकार की स्नायवीय वीमारियाँ शरीर में सदा के लिये घर कर लेती हैं।

### आत्मिक परिणाम

गन्दे विचारों को अपने अन्दर नगह देने से मनुष्य की आत्मा को मानो धाव लग जाता है। अन्तरात्मा, जो उन्मार्ग होतं हुए व्यक्ति को भटकने से बचाने के लिये दैवीय-वाणी का काम कर सकती थी, मर जाती है। डा० स्टॉल ने अपनी पुस्तक ‘बट ए थंग बॉय औट टु नो’ में इसी भाव को बड़े सुन्दर शब्दों में यूँ रखा है:—“हम में से बहुतों की अन्तरात्मा की आवाज़ बहरे कानों पर पड़ती है, वे उस की चेतावनी से मुँह फेर लेते हैं। अन्त में समय आता है जब कि आत्मा की आवाज़ उल्हें

मुनाई ही नहीं पड़ती । यह घटना वैसी ही है जैसे कोई ५ बजे प्रातःकाल उठने के लिये घड़ी की सुई ठीक कर के रखे । पहले दिन प्रातःकाल वह चौंका देगी, और यदि वह ठीक उसी समय उठ कर कपड़े पहनना शुरू कर दे तो प्रतिदिन प्रातःकाल जब घण्टी बजेगी वह उठ खड़ा होगा । परन्तु यदि पहले दिन ही घड़ी की आवाज़ सुन कर उठने के बदले वह चारपाई पर पड़े-पड़े सोचने लगे—‘एक मिन्ट और सो लूँ’, और यह सोच कर फिर लेट जाए, और जब तक उसे कोई न उठाये तब तक सोता रहे तो अगले दिन घण्टी बजने पर वह शायद जाग तो जाएगा, परन्तु अब तो—‘एक मिन्ट और सो लूँ’—सोचने की भी तकलीफ़ नहीं करेगा और सोता ही रहेगा । यदि सोने का यही सिलसिला जारी रहा तो दो-तीन दिन के बाद घड़ी बजती ही रहा करेगी और वह उस की आवाज़ तक न सुन सकेगा, मज़े में खुर्राटे भरता रहेगा । मनुष्य के अन्तरात्मा का भी यही हाल है । यदि हम शुरू से ही उस की सलाह को मानते रहें तब तो सब-कुछ ठीक रहता है, परन्तु यदि उस की चेतावनी पर हम कान न दें तो धीरे-धीरे उस की आवाज़ ही सुनाई पड़नी बन्द हो जाती है । इसलिये नहीं कि अन्तरात्मा की चेतावनी बन्द हो जाती है—घण्टी बजनी भी तो बन्द नहीं होती—लेकिन क्योंकि हम उस की तरफ़ से असावधान हो गये इसलिये हम खुले तौर पर इस प्रकार का पापमय जीवन व्यतीत करने लगते हैं मानो हमारी अन्तरात्मा है ही नहीं !”

काम-वासना की अनैसर्गिक तृष्णि के ठीकं वाद् हृदय में उमड़ता हुआ लज्जा और आत्म-न्लानि का समुद्र अन्तरात्मा की ही विरोध-सुनक चैषा है। प्रारम्भ में यह बड़ी प्रबल होती है, मानो बुराई से युद्ध कर रही होती है। परन्तु फिर,—‘केवल एक बार’—‘केवल इस बार’—के पाश्विक भाव का मुकाबिला कौन करे? मनुष्य का अवःपतन प्रारम्भ हो जाता है, यहाँ तक कि आत्मिक-चल सर्वया लुप्त हो जाता है। फिर वह पर्वा नहीं करता। उत्तर समय वह जो-जो कुछ कर वैठता है उसके सामने हस्त-मैथुन भी साधारण-सी बात जान पड़ती है। आत्मा सर्वया सो जाता है। उस का जीवन वासनामय हो जाता है, ऊँचा उड़ने की खरी-खरी भावनाएँ सब कुचली जाती हैं। जिन्दगी एक परेशानी की चीज़ बन जाती है। ऐसे ही ज्ञणों में वे घृणित पाप हो जाते हैं जिन की बद्रू से अदालतें भरी रहती हैं। जीवन के बोझ को अपने कल्पों पर उठाये, कुचेष्टाओं का दास, लज्जा और धर्म को ताक में रख, उस दिन की घडियाँ गिनने लगता है जिस दिन पृथिवी उस के बोझ से हल्की हो जायगी!

कुचेष्टाओं में मनुष्य कैसे फँस जाता है इस बात पर विचार किया जाय तो पता लगेगा कि ऐसे व्यक्ति में ‘इन्द्रिय-निय्रह’ तथा ‘आत्म-विश्वास’ का कृतरा तक नहीं रह जाता। आदत की बेड़ियों से बँध कर वह उन्हीं का गुलाम हो जाता है। जिस मनुष्य की इच्छा-रक्ति प्रबल होती है उसके मुख से—‘केवल एक बार’—‘बस, एक मिनट के लिये’—‘आखीरी बार’—ये शब्द-

निकलते ही नहीं। जिस के हृदय में ये शब्द उठते हैं उसे समझ रखना चाहिये कि 'केवल एक बार' कई बार दोहराया जायगा; 'वस, एक मिनट' कई घण्टों के लिये होगा और 'आखूरी बार' पतन की पहली बार होगी! आदत एक पिशाचिनी है जो मनुष्य की सन्तान को मार्ग-भ्रष्ट करने के लिये इन प्रलोभनों की रचना किया करती है। कुचेष्टाओं में पड़ा हुआ व्यक्ति अपनी आत्मा की आवाज़ की भी पर्वा न करता हुआ अपने पैरों अपने-आप कुल्हाड़ी मार बैठता है, इसीलिये उस की इच्छा-शक्ति सूत के कच्चे धागे की तरह ज़रा-सा बोझ पड़ने पर फौरन टूट जाती है, उस में कुछ बल नहीं रहता। आत्मिक-पतन की यह चरम-सीमा है।

### चि कि त्सा

ब्रह्मचर्य-पूर्वक शुद्ध तथा पवित्र जीवन व्यतीत करने के विषय में विस्तार-पूर्वक अगले एक अध्याय में लिखा जायगा। यहाँ पर आत्म-व्यभिचार से होने वाले भौतिक तथा मानसिक दुष्परिणामों से बचने के उपायों पर ही संक्षिप्त विवेचन करना है। सब से पहली बात यह है कि कुचेष्टा के कारण को समझ लेने में उस की चिकित्सा स्वयं आ जाती है। कारण को हटा दो, कार्य स्वयं हट जायगा—कुचेष्टा के कारणों को भी हटा दो, उस से होने वाले दुष्परिणाम स्वयं हट जायेंगे। इस सम्बन्ध में सब के लिये किन्हीं निश्चित बन्धे हुए नियमों का उल्लेख नहीं किया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी कठिनता

होती है, सब के अपने-अपने सवाल होते हैं, और उन के अलग-अलग ही हल होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अवस्था देख कर, उस की शिक्षायत के कारणों पर विचार कर के उन कारणों को दूर करना चाहिये। यहाँ पर सर्व-साधारण के उपयोगी केवल सामान्य-निर्देश ही दिये जा सकते हैं।

कुचेष्टा के भौतिक-कारणों से उत्पन्न होने वाले उपद्रव विशेष दुःख पहुँचाते हैं। और जब वे उपद्रव बढ़ जाते हैं तब यह स्वाल आता है कि यदि माता-पिता, गुरु, सम्बन्धी सावधान रहते तो इन दुःखों से बचा जा सकता था। यदि बालकों को प्रारम्भ में ही इन विषयों से जान-बूझ कर अनभिज्ञ रखने का प्रयत्न माता-पिता की ओर से न होता तो शायद उन की जीवन नौका चच जाती। जैसा इन पृष्ठों में जगह-जगह लिखा जा चुका है, माता-पिता ही, दुर्भाग्यवश, अपनी सन्तान के सर्वनाश के कारण बनते हैं। उन्हें मालूम होना चाहिये था कि अविवाहित जीवन की कठिनाइयाँ विवाहित जीवन से किसी प्रकार कम नहीं हैं। उन्हें अपने विद्यार्थी-जीवन के वैद्यकिक अनुभवों से यह ज्ञात होना चाहिये था कि उन का बालक भी इन बातों से किसी प्रकार अनभिज्ञ न रह सकेगा। उसे मालूम तो सभी कुछ हो जायगा। हाँ, इन रहस्यों को माता-पिता तथा गुरुओं से न जान कर वह अपने साथियों की अश्लील तथा गन्दी मखौलों से और अपने माता-पिता के नौकरों-चाकरों की गप्पों से सीख जायगा। फिर लड़का जिस रास्ते पर चल पड़ेगा उस की ज़िम्मेवारी, और

माता-पिताओ ! तुम्हें छोड़ कर किस पर होगी ? याद रखो, परमात्मा के द्रवार में तुम पर अपनी सन्तान की हत्या करने का अभियोग चलेगा ! इस में सन्देह नहीं कि माता-पिता के पाप सन्तान को भोगने पड़ते हैं ; परन्तु इस में भी तो सन्देह नहीं कि अनेक मूरुख पिता इस दृढ़ को दिल में लेकर ही मरते हैं कि उन्हीं की अमावश्यानी से उन की सन्तान का सत्यानास हो गया, और उन की आँखें तब खुलीं जब मामला उन के काढ़ से निकल गया और वे हाथ मलते रह गये ! इस समय तक श्रीग्रेजी में अनेक पुस्तकें निकल चुकी हैं जिन के आधार पर माता-पिता अपनी सन्तान के सन्मुख इन बातों को अच्छी तरह रख सकते हैं । माता-पिता तथा अध्यापकों को इस तरफ़ विशेष ध्यान देना चाहिये । हमारे समाज में इस विषय पर बाहर-बाहर की चुप्पी का जो दूषित वातावरण बना हुआ है उस से अन्दर-अन्दर कुचेष्टाओं की भयंकर आग सुलग रही है जिसे बुझाना कठिन जान पड़ रहा है ।

ये आदर्शें ऐसी हैं जो यदि एक बार जड़ पकड़ गईं तो इन का उखाड़ना कठिन हो जाता है । फिर भी किसी बुरे काम से जब भी पीछे कदम हटा लिया जाय तभी अच्छा है । जिसे बुरी आदत पड़ ही गई है उसे निम्न-लिखित नियमों से अपने जीवन को नियन्त्रित कर लेना चाहिये :—

( १ ) भोजन शुद्ध तथा सात्त्विक हो । मैदे की जगह मोटे आटे का इस्तेमाल हो । मिर्च, मसाले, मिठाई, खटाई आदि को छोड़ दिया जाय । फलों तथा दूध का प्रयोग ज्याद़ हो ।

( २ ) चाय, काफी, पान, तम्बाकू, सिगरट, भाँग, शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन कर्तव्य न किया जाय । उत्तेजक पदार्थों के सेवन की आवश्यकता युवक को न होनी चाहिये और यह स्मरण रखना चाहिये कि सब से अच्छा सात्त्विक उत्तेजक 'वृक्षचर्य' ही है । इस से शरीर में जो शक्ति आती है वह चाय पी-पी कर नहीं लायी जा सकती । इस की शक्ति टिक्कने वाली है, और चाय से आयी शक्ति तभी तक है जब तक पेट में चाय की गर्मी रहती है ।

( ३ ) जननेन्द्रिय को पर-व्रस्ति की उत्पादक-शक्ति का चिन्ह-मात्र समझना चाहिये । उस की तरफ़ ध्यान जाते ही दैवीय भाव का उदय होना चाहिये । इन्द्रिय-स्पर्श कभी न करना चाहिये । ऐसे काम की तरफ़ भूल कर भी ध्यान नहीं ले जाना चाहिये जिसे खुले में करते हुए हृदय में पाप की, लज्जा तथा भय की आशंका होती हो । ऐसा कार्य सदा पापमय होता है । यही तो पाप की पहचान है ।

( ४ ) जननेन्द्रिय के अगले हिस्से को, धीरे से, उस की उपरली त्वचा पीछे हटा कर, शुद्ध भाव से, प्रतिदिन धोना एक धार्मिक कृत्य के तौर से करना चाहिये । इस समय हृदय में परमात्मा की मानृ-शक्ति का ध्यान रहना चाहियें । यह सफाई ठीक ऐसी ही करनी चाहिये जैसे कान, नाक आदि की सफाई । यदि उपरली त्वचा बहुत तंग हो या बहुत लम्बी हो तो डाक्टर से सलाह कर के उसे कट्टा डालना चाहिये । यदि ठीक सफाई न

कर सकने के कारण इस त्वचा के नीचे, शिश्न-मुण्ड पर, ज़ख्म-से हो जायें, सूजन या खाज होने लगे, तो डरना नहीं चाहिये। जिस ने अपने को दूषित नहीं किया उसे बीमारी ऐसे-ही नहीं आ चिपटती। छोटे वालक जिन्होंने समाचार पत्रों के इश्तिहारों में सुनाक आदि भयंकर रोगों का नाम पढ़ लिया होता है ज़रा-भी खुल्ली से डर जाते हैं। इसीलिये इस अंग की सफाई ज़खरी है। यदि कभी साफ़ न रहने से जलन-सी होने लगे तो निम्न-औपचार्य का प्रयोग करना चाहिये, शिकायत शीघ्र दूर हो जायगी :—

i. अंगेजी दवाः—डस्टिंग पाउडर का उपयोग करना; अथवा धोकर बोरिक आयन्टमेन्ट लगाना। बोरिक आयन्टमेन्ट किसी भी डाक्टर से मिल सकती है।

ii. देसी दवाः—त्रिफला के पानी से अंग को धोकर त्रिफला की मरहम बना कर लगाना। यह मरहम त्रिफला को जला कर उस की राख को धी या वैन्लीन में मिलाने से आसानी से बन जाती है।

( ५ ) उक्त चार वातों के साथ दैनिक-चर्या को भी नियमित रखना चाहिये। इस का महत्व जितना हमारे पूर्वजों ने समझा था उतना आजकल नहीं समझा जाता। जल्दी उठना, जल्दी सोना, सोते हुए सुँह न ढँकना, शौच नियमित रूप से जाना; पेट साफ़ रखना, दातुन करना, व्यायाम, प्राणायाम, स्नान तथा सन्ध्या आदि वातें साधारण मातृम पड़ती हैं परन्तु ब्रह्मचर्य-रक्षा पर इन का कम असर नहीं पड़ता।

ब्रह्मचर्य-साधना के लिये ये वाहा-साधन अपेक्षित हैं। परन्तु इन साधनों के अतिरिक्त आभ्यन्तर साधनों की भी आवश्यकता है। इस बात को कभी न भूलना चाहिये कि कुचेष्टा—चाहे वह अपनी ‘इच्छा’ के कितनी ही विश्वद्वयों न हो—अपनी ‘इच्छा’ के बिना नहीं हो सकती। शरीर तो मन की ‘इच्छा’ का ही पालन करता है; कुचेष्टा में ग्रवृत्त व्यक्ति की ‘इच्छा’ के ही दो टुकड़े हो चुके होते हैं। उस की इच्छा ‘एक’ नहीं रहती। इसीलिये किसी भी बुरी लत को दूर करने के लिये, और खास कर कुचेष्टा को हटाने के लिये, ‘इच्छा-शक्ति’ का दृढ़ करना ज़रूरी है। अपनी इच्छा को ‘एक’—अविभक्त बनाओ ! उसे सशक्त बनाओ ! जिस कूप को तुम अच्छा समझो, वह कितना ही कठिन क्यों न हो; उसे कर दिखाओ ! जब तक संकल्प-शक्ति और प्रतिरोध-शक्ति का संचय न किया जाय तब तक किसी भी बुराई को जीतना असम्भव है, कुचेष्टाओं के लोह-मय पञ्जे से छुटकारा पाना तो अत्यन्त असंभव है। पीठ सीधी कर के, गरदन तान कर, इन्सान बन कर रहो ! शैतान के प्रलोभनों को पाँवों से ढुकराना सीखो ! आँखें ताने रहो ! कमर को झुकने मत दो ! —फिर देखो, कुचेष्टाओं का भूत तुम्हारे सन्मुख कैसे ठहरता है ? तुम पीछे से पछताते हो, इस का कारण तो तुम्हारी ही भूल है। कुचेष्टाओं का शिकार तो बनता ही कमज़ोर ‘इच्छा-शक्ति’ का आदमी है। संकल्प-शक्ति को दृढ़ बनाने का अभ्यास करो। इस विषय पर जो साहित्य मिले उस का अध्ययन करो। प्रो०

जेम्स ने अपनी पुस्तक 'प्रिनिसपल्स आँफ़ साइकोलौजी' में 'आदत' पर एक बहुत अच्छा अध्याय लिखा है, उसे पढ़ो। उसे पढ़ने से समझ आ जायगा कि मनुष्य के स्थायु-चक्र का 'इच्छा-शक्ति' को बनाने तथा बढ़ाने में कितना बड़ा हिस्सा है। उस अध्याय में दिये गये निर्देश क्रियात्मिक तथा उपयोगी हैं अतः उन का संज्ञेप में साराँश नीचे दिया जाता है, जो विस्तार से पढ़ना चाहें वे उसी पुस्तक को पढ़ें।

१. पहला नियम:—किसी भी आदत को नये सिर से बनाने, अथवा पड़ी हुई को छोड़ने, का पहला सिद्धान्त यह है कि उस का ग्राम्य बड़े ज़ेरों से—सारी इच्छा-शक्ति के ज़ेर से—करे। पहले तो संकल्प करने में मन का पूरा बल लगा दे, कोई मीन-मेल न रखे। फिर उस संकल्प को सफलता-पूर्वक निभाने में जितने भी उपायों का अवलम्बन किया जा सकता है सब का सहारा ले। यदि कोई बुराई प्रतीत न हो तो वेशक सब के सामने प्रतिज्ञा करे, और निष्प-प्रकार से धीरे-धीरे, परन्तु पूरे ज़ेर से, अपनी आत्मा को लक्ष्य में रख कर अपने को ही निर्देश करेः—

मैं इस बुरी आदत को छोड़ रहा हूँ,  
हाँ—हाँ, छोड़ रहा हूँ, बिलकुल छोड़ रहा हूँ;  
वह देखो, यह छूट रही है,  
आ—हा ! यह तो बहुत-सी छूट ही गई है ;  
छूट गई—बिलकुल छूट गई,  
अब यह न आ-य-गी, आ ही न स-के-गी !!

इन शब्दों को दोहराने में मन की सारी संकल्प-शक्ति लग जानी चाहिये । शान्त-एकान्त स्थान में, नीरवता की गम्भीरता में, साथेंकाल सोने से पूर्व और प्रातः काल सोकर उड़ते ही इन शब्दों को बार २ दोहराये । ये साधारण शब्द नहीं, जादू भरे शब्द हैं, और इन का असर किसी मन्त्र से कम नहीं । रात्रि को दोहराये गये ये वाक्य रातभर आत्मा में शक्ति भरते रहेंगे और प्रातः-काल के दोहराने से शक्ति का द्विगुणित वेग पाकर कुचेष्टा के दुकड़े-दुकड़े कर देंगे । पहले जैसे प्रलोभन से बचना असम्भव था वैसे अब उस से गिरना असम्भव हो जायगा ! याद रखो, गिरावट से बचने के लिये रखा हुआ एक-एक कदम उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ाया हुआ कदम है !

२. दूसरा नियमः— जब तक नई आदत पूरी तरह से तुम्हारे जीवन में अपना स्थान न बना ले तब तक एक नृण के लिये भी उस में अपवाद न होने दो । युद्ध में छोटी-सी भी विजय आगे आनंद वाली बड़ी विजय में सहायक होती है, इसी प्रकार छोटी-सी पराजय भी और पराजयों की तरफ ले जाती है । शुरू-शुरू में ढील करना अपने को तबाह कर लेना है । पराजय के पक्ष का ज़रा भी समर्थन हुआ तो जय के पक्ष को ही ऐस पहुँचेगी । ‘एक बार और’— एक ऐसा कुल्हाड़ा है जो ‘इच्छा-शक्ति’ के बृक्ष को जड़ों से काट डालता है । एक बार ‘न’ कह दिया, और सोच-समझ कर कह दिया, तो उसे ‘हाँ’ में तबदील कराना किसी के लिये भी असम्भव हो जाना चाहिये । जो कुछ

एक बार संकल्प कर लो, जब तक उसे आदत न बना लो तब तक डटे रहो, उस में ज़रा-सी भी ढील न आने दो । अन्त तक अपवाद न आने पाये, यही नियम बना लो ।

३. तीसरा नियमः— जिस संकल्प को करो उसे क्रिया में लाने का जो भी मौका मिले उसी को पकड़ लो । मौका यदि हाथ से निकला तो सदा के लिये ही निकला समझो । समय लौट-लौट कर नहीं आता । यदि अभी से हल लेकर जुत जाओगे तो जल्दी-ही तुम्हारी खेती भी हरी-भरी हो जायगी । जो मौके एक बार हाथ से निकल जाते हैं वे दूर जाकर आदमी को तरसाते ही रहते हैं । उन्हें देख-देख कर तकदीर को कोसता हुआ अभागा आदमी चिल्हाता है, ‘यदि ये मौका मुझे एक बार फिर मिल जाय !’— परन्तु शोक कि वह मौका फिर हाथ नहीं आता !!

४. चौथा नियमः— जो आदत डालना चाहते हो उस के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ काम प्रतिदिन बिना ज़रूरत के भी करते रहो । अर्थात्, कुछ न करने की अपेक्षा रोज़ बोट-बोटे कामों में भी अपने में धीरता, वीरता आदि गुणों को उत्पन्न करो । जब परीक्षा का अवसर आयगा तो तुम एकदम नौसिखिये की तरह घबरा न जाओगे । यह एक तरह का बीमा कराना है । जो आदमी अपने घर का बीमा करा लेता है उसे तात्कालिक कुछ फ़ायदा नहीं होता, अपने पले से देना ही पड़ता है । यह भी सम्भव है कि उस का फ़ायदा उठाने का अन्त तक उसे

अवसर ही न मिले ! परन्तु यदि किसी दिन घर को आग लग जाय तो वीमे के लिये खर्च करने के कारण उस का सत्यानास होने से भी तो बच जाय ! इसी प्रकार जो व्यक्ति प्रतिदिन धीरता, वीरता, त्याग, ध्यान तथा संकल्प का कोई-न-कोई कार्य चिना ज़रूरत के भी करता रहता है वह मानो अपनी मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों का वीमा करता है । यदि कभी कोई आपत्ति आ पड़ेगी तो जहाँ गदेलों में लोटने वाले गदेलों के साथ हवा में फूस की तरह उड़ जायेंगे, वहाँ प्रतिदिन आत्मा की साधना में लगे रहने वाले चट्टान की तरह अचल खड़े रहेंगे ।

संकल्प-शक्ति को बढ़ाने के साथ-साथ अपने मन के पद्धों को खोल-खोल कर उन की परख भी करनी चाहिये । सोचो, तुम्हारी शिकायत का कारण क्या है ?—कहीं 'कुत्सित-संकल्पों' से तो तुम्हारा नाश नहीं हो रहा ?—कहीं तुम अकेले बैठे-बैठे तो मन के बोडे को नहीं दौड़ाया करते ?—कहीं मानसिक-चित्रपट पर कल्पना की रेखाओं से ऐसे चित्र तो नहीं बनाते रहते जिन से मिलती-जुलती ठोस वस्तु इस दुनियाँ में ढूँढ़ने से भी नहीं मिलती ? यदि ऐसा है तो अब 'वस' कर दो । एकान्त में बैठना छोड़ दो । याद रखो, दो तरह के आदमियों को समाज से डर लगता है । या महात्माओं को, या पापियों को । यदि तुम एक नहीं हो तो दूसरे होगे ! ये 'कुत्सित-संकल्प' तुम्हारा सर्वनाश कर के छोड़ेंगे । ये तुम्हारे हृदय में उन-उन चित्रों की रचना करेंगे जो मनुष्यों के संसार में दिखाई नहीं देते ।—कहीं उपन्यास पढ़ते-पढ़ते तो तुम्हारा

मानसिक-क्षितिज झुँझला नहीं हो गया ? यदि ऐसा है तो इन्हें ज़मीन पर पटक दो, ऐसी पुस्तकें पढ़ो जिन से तुम्हारे पछे कुछ पड़े। जिस मनुष्य का मन पवित्र है, जिस में 'कृत्सित-संकल्पों' की बाढ़ नहीं आयी वह कुचेष्टाओं में भी नहीं पड़ता। अच्छी पुस्तकें पढ़ो। यदि तुम अभी छोटे हो तो अपने बड़े भाई से या अच्यापक से पूछ कर ही किसी पुस्तक को हाथ लगाओ ; यदि तुम समझदार हो तो अपने छोटे भाई के हाथ में कोई गन्दी किताब न आने दो। छापेखाने बढ़ रहे हैं, किताबों के भी दैर-के-दैर निकल रहे हैं। लोग कमाने के लिये सब-कुछ वेतहाशा लिया रहे हैं, इसलिये यदि दो अक्षर सीख गये हो तो संभले भी रहो। बुरे साथियों का संग छोड़ दो। आग लगे उस दोस्त की दोस्ती को जिस का उद्देश्य तुम्हारा शिकार खेलने के सिवाय कुछ नहीं है। साथ-ही 'निटल्ले' मत बैठो। निटल्लेपन के चर्चे से ही तो कृत्सित-संकल्पों का सूत काता जाता है। काम में लगे रहो, क्योंकि ख़ाली-दिमाग़ शैतान का घर होता है। मन को बन्दर की तरह हर समय कुछ-न-कुछ करने को मिलना चाहिये। काम को बदल देना ही मन का आराम है। काम को छोड़ देने से तो यह तबाही मचा देता है। ठाली मत बैठो। मन में पवित्र विचार और पवित्र संकल्प भर दो; फिर, शर्तिया कहा जा सकता है कि तुम कुचेष्टा में कभी न पड़ोगे। तुम्हारे पास समय ही कहाँ होगा ?

मन के लिये तीन चीजें जहर हैं। 'ठालीपन'; 'कृत्सित-संकल्प'; 'चिन्ता'। ठालीपन का मतलब है जब मन ख़ाली हो;

कुत्सित-संकल्प का मतलब है जब मन भरा हुआ हो—वद्वू से भरा हो। परन्तु मन ठाली तो रह ही नहीं सकता। मनुष्य ठाली हुआ नहीं और संकल्प-विकल्पों ने अपने साज-सामान के साथ देरा डाला नहीं। चिन्ता—यह मन की तीसरी अवस्था है। इसमें मन भरा होता है, परन्तु ख़ाली होना चाहता है, और ख़ाली होने का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता—वस, यह दुविधा की अवस्था ही चिन्ता है। चिन्ता से अनेक उच्च-आत्माओं का पतन हुआ है। चिन्ता-ग्रस्त व्यक्ति के लिये कुचेष्टाओं का शिकार हो जाना असाधारण बात नहीं है। शायद इस प्रकार वह अपने को थोड़ी देर के लिये चिन्ता के असीम बोझ से मुक्त पाता है, परन्तु यह मुक्ति उस पर पहले से भी ज्याद़ आत्म-लानि का बोझ लाद़ देती है। ‘ठालीपन’, ‘कुत्सित-संकल्प’ तथा ‘चिन्ता’—ये तीनों मानसिक पाप हैं। इन से मस्तिष्क की खायबीय शक्ति पर आवात पहुँचता है, मनुष्य के अखण्ड शक्ति-भण्डार का हास होता है। इन तीनों के उपद्रवों से बचने के लिये ‘संकल्प-शक्ति’ का संचय करना ही सर्वोत्तम उपाय है।

## च्छापूर्वम् च्छाष्ट्याय

‘इन्द्रिय - निग्रहः’

[ ख. पत्री-व्यभिचार ]

हृष्टम् पहले देख चुके हैं कि ‘अमीवा’ की रचना में लिंग-भेद नहीं होता। उस के उत्पन्न होने तथा बढ़ने में नर-तत्व तथा मादा-तत्व कारण नहीं होते। उसी के टुकड़े होते जाते हैं और नये अमीवा पैदा होते जाते हैं। एक ही अनेक हो जाता है। और क्योंकि एक ही अनेक होता है, उस में नवीन तत्व का समावेश नहीं होता, इसलिये उस में कोई परिवर्तन भी नहीं आता। अमीवा मरता भी नहीं, भागों में विभक्त हो जाता है। विभजन-क्रिया से यह सृष्टि के अन्त तक जीता रहेगा। अमीवा की इस प्रकार की उत्पत्ति को एक-लिंगी-उत्पत्ति (ए-सैक्षुअल जनरेशन) कह सकते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक यदि प्रकृति एक-लिंगी-उत्पत्ति द्वारा ही कार्य करती तो प्राणियों की रचना में परिवर्तन तथा उन्नति दोनों न दिखाई देते। इसलिये शरीर-रचना में विविधता उत्पन्न करने के लिये प्रकृति ने अपने पुराने तरीके को बदल कर नये तरीके से काम लेना शुरू किया। यह तरीका लिंग-भेद का है। इस में द्वि-लिंगी-उत्पत्ति (सैक्षुअल या बाई-पेरेंटल जनरेशन) होती है। प्राणि-रचना में नर-तत्व तथा

मादा-तत्व दोनों काम करते हैं और अंमीवा की तरह मूल-तत्व का आधा-आधा हिस्सा अलग होकर ही काम नहीं चल जाता। दो भिन्न-भिन्न तत्वों का संयोग होता है, और क्योंकि वे तत्व भिन्न-भिन्न हैं इसलिये उन के मिलने से अनेक नवीन गुणों के प्रादुर्भूत होने की सम्भावना बनी रहती है। जिन भिन्न-भिन्न शरीरों में ये दोनों तत्व उत्पन्न होते हैं वे तो अपनी आयु भुगत कर नष्ट हो ही जाते हैं परन्तु उन के गुण इन दोनों तत्वों—शुक्र-कण तथा रजःकण—द्वारा अमर हो जाते हैं।

शुक्र-कण तथा रजःकण के संयोग में जो नियम काम कर रहे हैं वही मनुष्य-शरीर में काम कर रहे हैं। दो मूल-उत्पादक-तत्व तो 'पुरुष' तथा 'स्त्री' हैं। इन तत्वों का संयोग 'विवाह' कहाता है। शुक्र-कण तथा रजःकण का जो पारस्परिक स्थाभा-विक आकर्षण है वही मानव-जीवन में 'प्रेम' है। जिस प्रकार इन दोनों उत्पादक-तत्वों के संयोग से नव-जीवन प्रारम्भ होता है इसी प्रकार दम्पती के पारस्परिक प्रेम से ही 'गृहस्थ' चलता है। इन दोनों परस्पर विरोधी तत्वों के मिलने से ही प्राणि-जीवन में नवीनता आती है, इसी प्रकार समाज के संगठन में पुरुष तथा स्त्री दोनों के सहयोग से मानव-समाज की 'उन्नति' हो सकती है।

पुरुष स्त्री की तरफ़ स्विन्तता है, स्त्री पुरुष की तरफ़ स्विन्तती है। यह अनुभव विद्य-ज्यापी है। इस में कुछ बुरा भी नहीं, यह सृष्टि का नियम ही है, इस के बिना सृष्टि ही नहीं चल सकती। इसीलिये शास्त्र ने विवाह की आज्ञा दी है।

विवाह एक बन्धन है परन्तु जब तक इस बन्धन में प्रेम के तन्तु ओत-प्रोत हैं तब तक यह बन्धन भी मोक्ष से बढ़ कर है। प्रेम एक आग है ! भोले गृहस्थी नहीं समझते कि प्रेम की आग को किस प्रकार सुगलती रखा जाय। वे पतंग की तरह दीप-शिखा पर प्राण न्यौद्धार कर देना जानते हैं—कविता के अर्थों में नहीं, किन्तु मोटे अर्थों में ! विवाह के बाद स्त्री-पुरुष दोनों कामारिन को प्रचण्ड कर उस में कूद पड़ते हैं। उन्हें पता नहीं होता कि प्रचण्ड लपटों के बाद आग शान्त हो जाती है, कुछ ही देर में राख का ढेर लग जाता है। यह सत्र है कि स्त्री तथा पुरुष एक दूसरे के भूखे होते हैं परन्तु यह भी सत्र है कि भूखा सदा ज्याद्वाह खा जाता है। ज्याद्वाह खाने वाले का बंदा विगड़ जाता है, वह भूख लगने की दवाइयाँ खाने लगता है। दवाइयों से नकली भूख जागती है, परन्तु नकली भूख से कौन कितने दिनों तक जी सकता है ? ज्याद्वाह खाने से कुछ दिनों में खाना ही मुश्किल हो जाता है। विषय-भोग में वह जाने वाले भी विषय-भोग के काम के नहीं रहते। भूख का सब से बड़ा शत्रु ज्याद्वाह खाना है ; प्रेम का सब से बड़ा शत्रु विषय में लिस हो जाना है। भूखे को सब से पहले ग्रास में जो आनन्द आता है वही नव-दम्पती को विषय में आता है ; भूखे को ज्याद्वाह खाकर अपचन हो जाता है, नया जोड़ा भी संयम तोड़ कर विषय में लिस हो जाने से ठरड़ा पड़ जाता है। एक दूसरे के प्रति तड़पते दिलों को लेकर थोड़े ही दिनों में ठरड़े हो जाने

वाले स्त्री-पुरुषों की गणना ली जाय तो सहज समझ पड़ जाय कि प्रेम की विषय-भोग के साथ कितनी शक्ति है !

विवाह रूपी रथ को चलाने के लिये उस की धुरी में प्रेम रूपी तेल पड़ता रहना चाहिये, नहीं तो रगड़ पैदा हो जाती है, और यह गाड़ी रास्ते में ही खड़ी हो जाती है। मूर्ख दम्पती समझते हैं कि विषय-भोग से ही गृहस्थ सुखी रह सकता है। उन्हें मालूम नहीं कि विषय-भोग प्रेम का भड़े-से-भद्वा रूप है। अस्त्ती प्रेम आत्मा से सम्बन्ध रखता है; शारीरिक-प्रेम आव्यात्मिक-प्रेम की केवल छाया है, यह उस की वास्तविकता को नहीं पा सकता। जिस प्रकार का जीवन नवयुवक विवाह के बाद व्यतीत करते हैं वह तूफान का जीवन होता है। इस तूफान में उन्हें आगा-पीछा कुछ नहीं सूझता; तूफान निकल जाने पर साँस के लिये हवा का एक झोंका मिलना भी मुश्किल हो जाता है। शुरू-शुरू में मानो प्रेम उमड़ा पड़ता है; बाद को प्रेम की एक वूँद भी नहीं बच रहती। वे कहने लगते हैं कि 'प्रेम' वस्तु ही ऐसी है। परन्तु यह उन की भूल है। डाक्टर लूथर एच. गुलिक महोदय 'डायनेमिक ऑफ मैनहूड' नामक पुस्तक में लिखते हैं:— “यह विलक्षण सम्भव है कि एक पुरुष किसी स्त्री से विवाह करे और ज्यों-ज्यों समय बीतता जाय त्यों-त्यों उसे अनुभव हो कि उस की पत्नी पहले की अपेक्षा कहीं अधिक आकर्षक होती जा रही है, कोमलता तथा सौन्दर्य में बढ़ती जा रही है, लता की तरह अपने प्रेम के तन्तुओं से उस के हृदय

को चारों तरफ से आवेदित करती जा रही है। उसे अनुभव होने लगता है कि स्त्री-पुरुष का शारीरिक आकर्षण यद्यंपि आवश्यक है तथापि वास्तविक प्रेम का आधार कोई ऊँची ही वस्तु है। उसे अपनी पत्नी की बातों में आनन्द आने लगता है; उस का दृष्टि-विन्दु एक नवीन सौन्दर्य को उत्पन्न कर देता है। वह अपनी पत्नी के लिये कोई नई चीज़ लाता है—नई पुस्तक लाता है, या नया चित्र ही ले आता है—इन सब से उस के हृदय में जो विचार पहले नहीं उठे थे वे उसे अपनी पत्नी से सुनने का सौभाग्य प्राप्त होता है क्योंकि पुरुष प्रत्येक वस्तु को पुरुष की तथा स्त्री, स्त्री की दृष्टि से देखती है। इस प्रकार दोनों का प्रेम बढ़ता चला जाता है। प्रेम के इस स्वरूप को समझने वाले थोड़े हैं—वे विषय-भोग को ही प्रेम समझते हैं, परन्तु वास्तव में प्रेम संकुचित वस्तु नहीं है, वह रात्रि के पापमय एकान्त में ही नहीं परन्तु चौबीसों घण्टे प्रकट हो सकता है और इसी प्रकार का प्रेम टिकने वाला भी होता है।”

पुरुष अपनी वेकूफ़ी से समझता है कि स्त्री का सन्तोष काम-भाव से ही होता है। उसे मालूम नहीं कि स्त्री से बातचीत क्या करे, उस के साथ काम-चर्चा को छोड़ कर २४ घण्टे किस तरह बिताये? साथ ही हमारा समाज इतना गन्दा है कि प्रत्येक पुरुष के दिमाग् में भर दिया जाता है कि स्त्री का सन्तोष काम-भाव से ही हो सकता है। स्त्री के विषय में ये गन्दे विचार इतना धर कर गये हैं कि गृहस्थी आवश्यकता ही नहीं समझता

कि अपनी स्त्री की इच्छा को भी जाने। गृहस्थियों पर काम का भूत इतना सवार नहीं रहता जितना इन विचारों का भूत। काम से प्रेरित हो कर नहीं, परन्तु इन विचारों से प्रेरित होकर गिरने वालों की सँख्या कहीं अधिक है। प्रत्येक गृहस्थी को स्मरण रखना चाहिये कि विषय-वासना स्त्री में सदा नहीं होती, वह कभी ही उठती है। स्त्री की इच्छा के बिना पुरुष का उसे हाथ लगाना भी बलात्कार है। अनियमित विषय-भोग से प्रेम नष्ट हो जाता है। काम-चर्चा को छोड़ कर अपनी पत्नी के साथ २४ घण्टे बिताना प्रत्येक गृहस्थी को सीखना चाहिये; जैसे अपने साथियों के साथ पुरुष समय बिता सकता है वैसे अपनी स्त्री के साथ क्यों नहीं बिता सकता। चाहे स्त्री पढ़ी-लिखी हो, चाहे न हो, प्रत्येक पुरुष को अपनी स्त्री के साथ समय बिताना सीखना चाहिये, ऐसे उपाय निकालने चाहियें जिन से समय बिताया जा सके। तभी उन में स्थिर प्रेम उत्पन्न हो सकता है।

विषय में लिप्त हो जाने से मनुष्य उस से भी हाथ धो बैठता है। इस से स्त्री-पुरुष का एक दूसरे से जी ऊन जाता है, कभी-कभी घृणा भी पैदा हो जाती है; जीवन शून्य, आत्म-हीन हो जाता है। विवाह-बन्धन में पड़ने से पहले प्रत्येक दम्पती को डाक्टर कोवन की निम्न पंक्तियाँ अवश्य पढ़ लेनी चाहियें:—“नई शादी कर के पुरुष तथा स्त्री विषय-भोग की ढलढल में जा धूँसते हैं। विवाह के प्रारम्भ के दिन तो मानो नैतिक व्यभिचार के दिन होते हैं। उन दिनों में ऐसा जान पड़ता है जैसे विवाह

जैसी उच्च तथा पवित्र संस्था भी मानो मनुष्य को पशु बनाने के लिये ही गढ़ी गई हो । ऐ नव-विवाहित दम्पती ! क्या तुम समझते हो कि यह उचित है ?— क्या इस प्रकार तुम्हारी आत्मा नहीं गिरती ?— क्या विवाह के पद्म में छिपे इस व्यभिचार से तुम्हें शान्ति, बल तथा सन्तोष मिल सकते हैं ?— क्या इस व्यभिचार के लिये छुट्टी पाकर तुम में प्रेम का पवित्र भाव बना रह सकता है ? देखो, अपने को धोखा मत दो । विषय-वासना में इस प्रकार पड़ जाने से तुम्हारा शरीर और आत्मा दोनों गिरते हैं ; और प्रेम ! प्रेम तो, यह बात गँठ बँध लो, उन लोगों में हो ही नहीं सकता जो संयम-हीन जीवन व्यतीत करते हैं । नई शादी के बाद लोग विषय में वह जाते हैं ; इस तरफ़ कोई ध्यान ही नहीं देता ; परन्तु इस अन्धेपन से पति-पत्नी का भविष्य — उन का आनन्द, बल, प्रेम — ख़तरे में पड़ जाता है । व्यभिचारमय जीवन से कभी प्रेम नहीं उपजता — संयम को तोड़ने पर सदा घृणा उत्पन्न होती है, और ज्यों-ज्यों जीवन में संयम-हीनता बढ़ती जाती है त्यों-न्यों पति-पत्नी का हृदय एक दूसरे से दूर होने लगता है । प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री को यह बात समझ रखनी चाहिये कि विवाहित होकर विषय-वासना का शिकार बन जाना, शरीर, मन तथा आत्मा के लिये वैसा ही घातक है जैसा व्यभिचार । स्त्री-पुरुष के पारस्परिक रति-भाव के लिये स्त्री की स्वाभाविक इच्छा का होना आवश्यक है और यह इच्छा ऋतु-धर्म के ठीक बाद ही होती है, फिर नहीं । ऋतु-धर्म

के बाद प्रत्येक स्वस्य खी को इच्छा होती है ; यदि वह पति पर अपनी इच्छा किसी प्रकार प्रकट कर दे तभी पुरुष का खी-संग होना चाहिये, अन्यथा नहीं, कभी नहीं ! इस के विपरीत यदि पति अपनी इच्छा, अथवा कल्पित इच्छा, पूर्ण करना अपना वैवाहिक अधिकार समझे, और खी केवल पति से डर कर उस की इच्छा को पूर्ण करे तो परिणाम पुरुष के मस्तिष्क पर वैसा ही होगा जैसा हस्त-मैथुन का ।”

‘विवाह’ और ‘व्यभिचार’—वह भी ‘पत्नी-व्यभिचार’ ! इस शब्द को बोलते और लिखते ही शर्म आती है, परन्तु अफ़सोस ! यह शब्द सच्चा है, अत्यन्त सच्चा ! विवाह कर के तो पुरुष समझते हैं उन्हें व्यभिचार के लिये कानूनी पर्वना मिल गया—अब दिन-रात वे कुछ भी करें, उन्हें रोक सकने वाला कोई नहीं ! परन्तु वे भोले समझते नहीं कि संयम-हीन जीवन चाहे विवाह कर के विताया जाय चाहे बिना विवाह के, ईश्वरीय नियमों के सन्मुख दोनों अवस्थाओं में वह व्यभिचार है, मनुष्य चाहे ‘विवाह’ शब्द की दुहाई दे कर अपनी आत्मा को धोखा देने की कितनी ही कोशिश क्यों न करता रहे ! जब मुकदमा बड़ी अदालत में पेश होगा तब व्यभिचार के लिये समाज की आज्ञा ले लेना कुदरती कानूनों से छुटकारा नहीं दिला सकेगा । इच्छा न होते भी पत्नी-संग करना हस्त-मैथुन से भी बुरा है । हस्त-मैथुन में तो पुरुष अपनी ही तबाही करता है ; पत्नी-व्यभिचार में वह उस पापी की तरह आचरण करता है जो आत्म-धात करता हुआ

दूसरे की भी निर्दयता-पूर्वक हत्या कर ढालता है। जीवन-संगिनी अपनी पत्नी को विषय-वासना की तृप्ति का साधन-मात्र बना लेना संसार का सब से बड़ा पाप है और ख्वी के साथ किया गया सब से बड़ा अन्याय है। हस्त-मैथुन पाप है, बेश्यागमन भी पाप है, परन्तु जो पति अपनी पत्नी की इच्छा के बिना उस पर बलात्कार करता है वह इन सब पार्णों को एक-साथ कर बैठता है—इसलिये पत्नी-ज्युभिचार महापाप है। विवाह जैसी पवित्र-संस्था की ओट में यह महा-पातक जीता है इसलिये इस के परिणाम भी कम भयंकर नहीं हैं।

गृहस्थी नान-बूझ कर संयम तोड़ते हैं; इस से वे कैसे बचें? बचने का उपाय अत्यन्त सरल है। ख्वी को पशु न समझ कर उसे मनुष्य समझा जाय। यह अनुभव किया जाय कि जिस प्रकार पुरुष, समाज की तथा देश की घटनाओं पर विचार कर सकते हैं इसी प्रकार ख्वियाँ भी इन विषयों में दिलचस्पी ले सकती हैं। वे पुरुषों के ही समाज हैं, पुरुषों की साधन-मात्र नहीं हैं। ख्वियों में जहाँ यह भावना उठेगी वहाँ संयम स्थिर आ जायगा। इस समय ख्वी का स्थान पुरुष के जीवन में उस की काम-वासना को तृप्त करने के अतिरिक्त कुछ नहीं है, पुरुष ख्वी के निकट आते ही काम-भावों के सिवाय कुछ नहीं सोच सकता। जब पुरुष तथा ख्वी किसी एक विषय पर बातचीत ही नहीं कर सकते, दोनों की प्रगति अलग-अलग, दोनों की मानसिक रचना अलग-अलग, दोनों का ज्ञेय अलग-अलग, तब वे मिल कर वही तो बात करेंगे

जो दोनों कर सकते हैं। यदि दोनों, जीवन की भिन्न-भिन्न घटनाओं में समान हिस्सा ले सकें, साथ-साथ बैठ कर भिन्न-भिन्न विषयों पर विचार कर सकें, इकट्ठे काम कर सकें तो स्त्री-पुरुष की एक दूसरे के प्रति जो स्थाभाविक आकँक्षा होती है वह पूरी होती रहे और विषय-भोग ही स्त्री-पुरुष के एक लेवल पर आने का एकमात्र माध्यम न रहे। प्रत्येक पति का कर्तव्य है कि अपनी पत्नी की रुचि अपने दैनिक कार्यों में उत्पन्न करे, उस में देश तथा समाज की घटनाओं पर स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति पैदा करे, उसे समाज का एक अंग बनाने की कोशिश करे। यदि ऐसा न होगा, स्त्री को पढ़ें की चीज़ समझा जायगा, उसे चिड़िया और बुलबुल बना कर उस के साथ खेलने के समय ही उसे पिंजड़े में से निकाला जायगा तो गृहस्थ भी पाप का गढ़ा बना रहेगा, जैसा कि इस समय बना हुआ है।

विषय में ज्यादह फँसावट का कारण समाज में फैले हुए कई झूठे विचार भी हैं। हरेक गृहस्थी को उस के दोस्त यह समझाने की कोशिश करते हैं कि स्त्री काम-भाव को पसन्द करती है। इस झूठी वात के सिवा स्त्री के विषय में उसे न कुछ पता ही होता है, न बताया ही जाता है। वह समझता है कि यदि वह यह सब-कुछ न करेगा तो स्त्री उसे न पुँसक समझेगी, उस से घृणा करेगी। उसे बतलाया जाता है कि स्त्री के लिये पुरुष का पुरुषत्व यही है—ब्रह्म, और कुछ नहीं! जैसा पहले कहा गया, इन 'विचारों' का भूत पुरुष को जितना डिगने की तरफ़ ले जाता

है उतना 'काम' का भूत नहीं । कौन पुरुष है जिस पर काम का भूत सदा सवार रहता हो ; परन्तु कौन पुरुष है जो इन भूठें, गन्दे, सत्यानाशी विचारों के चक्कर में आकर अपने ऊपर काम के भूत को सवार न कर लेता हो ! खी के विषय में इस प्रकार की धारणा रखना उस की आध्यात्मिकता का तिरस्कार करना है । पुरुष तथा खी दोनों को समझ रखना चाहिये कि काम का भूत न पुरुष पर ही सवार रहता है, न खी पर ही ; भूठे फैले हुए विचारों से ही दोनों इस भूत के शिकार हो रहे हैं और एक दूसरे की आत्मिक उन्नति में सहायक होने के बदले एक दूसरे को गिराने में बढ़-बढ़ कर हाथ ले रहे हैं ।

न्नाद्यमा आद्याय

‘इ न्द्रि य - नि ग्रहः’

[ ग. वेश्या-व्यभिचार ]

विं वाह सम्बन्ध के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध व्यभिचार कहाता है। आत्म-व्यभिचार तथा पत्नी-व्यभिचार की तरह यह भी जान-वूक कर किये आत्म-पतन में गिना जाता है क्योंकि इस में भी मनुष्य जानता-वूफता गढ़े में कूद पड़ता है। इस समय हमारा समाज कुत्सित वासना की दुर्गन्ध के रौख नरक में पड़ा सड़ रहा है। स्त्री को काम-क्रीड़ा की कठपुतली समझा जाता है— पुरुष जब चाहे उस से खेलता है। भोग और लालसा की वेदी पर स्त्री का सतीत्व नित्य बलि चढ़ाया जाता है। नारी के प्रति उच्च-विचार उपहास की वस्तु समझे जाते हैं। कहने को कितना ही क्यों न कहा जाय कि इस समय पाश्चात्य-जगत् में स्त्री की स्थिति पुरुष के समान होती जा रही है परन्तु जब तक पूर्व-पश्चिम—कहीं भी समाज के मस्तक पर वेश्यावृत्ति के कलंक का टीका विद्यमान है तब तक वह समाज गिरा हुआ है, समस्त स्त्री-समाज के घोर अपमान का अपराधी है। इस समय भारत में ५ लाख से अधिक वेश्याएँ हैं जिन की वार्षिक आय मिला कर लगभग पौन अरब रुपया है। ‘न स्वैरी स्वैरिणी कुतः’ की

सामिमान घोपणा करने वाले अश्वपति कैवल्य के देश की आग यह दुर्दशा है ! क्या उस महीपति की आत्मा इस देश की दशा को देख कर गम्भ आहें नहीं भर रही होगी ?

इस पतन का प्रारम्भ कहाँ से होता है ?—इस का प्रारम्भ होता है समाज द्वारा लियों पर किये गये अत्याचारों से ! यदि कोई नर-पिशाच बलात्कार से भी किसी अवला का सतीत्व अपहरण कर ले तो उस निर्दोष अवला को समाज में से धक्के देकर बाहर निकाल दिया जाता है, परन्तु वह पापी पहले की तरह ही दनदनाता हुआ अपने पैसे के ज़ोर से समाज के बज़-स्थल को एड़ियों के नीचे कुचलता चला जाता है। वह अवला क्या करे ?—क्या खाये ?—क्या पहने ?—कहाँ रहे ? दुःखों की सताई, आफ़त की मारी, समाज के अन्याय-पूर्ण अत्याचारों से पीड़ित होकर वह मुँझला उठती है, लज्जा के आवरण को ताक में रख देती है, क्योंकि समाज इसे चुनौती देन्दे कर कहता है—‘तुम्हारे लिये यही रास्ता है, तुम पीछे कढ़म नहीं रख सकती’ ! अनुभव उसे सिखा देता है कि जो लोग माँगने से पैसा तक नहीं निकालते वही नराधम अपनी पाशविक काम-पिपासा की तृप्ति के लिये ख़जाने लुटा देते हैं ! वह बालिका जो किसी घर का आभूषण बनती, किन्हीं पुत्र-रत्नों को जनती, समाज से ठोकरें खाकर चौराहे में अपने शरीर को बेचने के लिये बैठ जाती है मानो घृणित-से-घृणित कृत्य कर के अत्याचारी समाज का उपहास कर रही हो ।

भारत में वेश्यावृत्ति का सम्बन्ध विधवाओं की दिनों-दिन बढ़ रही संख्या से अत्यन्त धनिष्ठ है। इस अभागे देश में विधवाओं की संख्या २॥ करोड़ से अधिक है। यदि भारत में खियों की संख्या १५ करोड़ मान लें तो मानना पड़ेगा कि यहाँ प्रत्येक ६५ खियों में १ विधवा है। आयु का एक-एक पल दुराचारे में व्यतीत करने वाले भी इन विधवाओं से, जिन में से हजारों ने पति के दर्शन तक नहीं किये होते, आशा रखते हैं कि वे आजन्म ब्रह्मचारिणी रहें। धन्य हैं इस देव-भूमि की विधवाएँ जो, पति-दर्शन हुए हों या न हुए हों, विधवा हो कर पर-पुरुष के विचार को भी मन में नहीं लातीं। उन्हीं के सतीत्व से इस भूमि में अब तक भी कुछ दम है। परन्तु विधवाओं पर यह कैद लगा कर यदि पुरुष भी उन पर बुरी नज़र न उठाते तभी तो वे बच सकतीं! वे विवाह न करें, और ये उन पर अपनी जाल फैलाने से बाज़ भी न आयें तो व्यभिचार फैलाने के सिवाय और परिणाम ही क्या हो सकता है?

इस के अतिरिक्त विधवाओं के साथ वर्ताव क्या होता है? एक समृद्ध पुरुष की खी जो पति के जीते समय रानी थी, सारे घर पर राज करती थी, उस के मरते ही घर में दासी से बुरी हो जाती है। जिसे खाने-पीने की कमी न थी वह सूखे चंदों को मोहताज हो जाती है। इस धृणित व्यवहार से, इस आर्थिक समस्या से छुटकारा पाने की चाह यदि किसी अबला को गिरा देती है तो उस के पाप का उत्तर-दायित्व समाज के सिर हैं, क्योंकि

समाज अपने व्यवहार में परिवर्तन नहीं लाता परन्तु उस अवलोकन को गढ़े में गिरा कर उस का पालन करने के लिये तैयार रहता है। यह अपने हायों पाप के बीज को बोना नहीं तो क्या है?

खी चारों तरफ से समाज की सताई हुई ही इस जनन्य कृत्य में पड़ सकती है। वह अपने पापी पेट की खातिर इस नरक में कूद पड़ती है। समाज अपने व्यवहार को बदलने की अपेक्षा इस पाप को पालना ज्याद़ह पसन्द करता है, तभी यह प्राप पल रहा है, नहीं तो कोई वेश्या ऐसी न होगी जिसे अपने पेशे से तीव्र धृणा न हो। ‘चाँद’ के वेश्या-अंक में उस के योग्य सम्पादक लिखते हैं:—“एक युक्ति वेश्या ने एक बार हमें एक पत्र लिखा था, जिस का आशय इस प्रकार है:—क्या आप समझते हैं कि अनेक पुरुषों के साथ शयन करने में हमें त्रिलकुल हुँख नहीं होता? हमारे भी हृदय है और उस हृदय में एक प्रकार की तीव्र पिपासा है, वह क्या इस प्रकार के पत्तियों से शान्त हो सकती है? हम तो पैसे से खरीदी जाने वाली काम की मूर्त्तियाँ हैं—एक सुन्दर युक्ति को हम प्रेम करती हैं परन्तु एक धनी कुत्सित वृद्ध के लिये हमें उस के संग-सुख का आनन्द नहीं मिलता। हमारा जीवन भयंकर अग्नि-कुरुण के समान है।”

वेश्या-वृत्ति का परिणाम क्या होता है?—इस का जाज्वल्यमान चित्र डा० फुट ने यूँ खींचा है:—“कल्पना करो कि कोई व्यक्ति ऐसे स्थान पर खड़ा हो जाय जहाँ से सब लोग आते-जाते हों; वहाँ खड़ा होकर वह कहे कि यदि पैसा मिलेगा,

तो उसे जो-कुछ खाने को दिया जायगा वह खा लेगा । फिर कल्पना करो कि सैंकड़ों मन-चले नौजवान उसकी वेवकूफ़ी की तारीफ़ करते हुए उसे खाने को ला-ला कर देने लगें ; एक आदमी ऐसी चीज़ ला दे जो उसे पसन्द हो, दर्जनों लोग ऐसी चीज़ लाएँ जिसे खाते ही उल्टी आती हो, और बीसियों ऐसी चीज़ लाएँ जिस की उसे ज़रूरत ही न हो या उस के शरीर में गुंजाइश न हो । पेट पर यह अत्याचार दिनों तक, महीनों तक और वर्षों तक होता रहे । दुनियाँ में कौन-सा आदमी है जिस का पेट इस दुरुपयोग से बीमारियों का घर नहीं बन जायगा ? खाने में योड़ा-बहुत अनियम कर देने से ही पेट ख़राब हो जाता है, अपचन की शिकायत हो जाती है ; फिर जिस व्यक्ति का चित्र ऊपर खींचा गया है उसे जो बीमारी होगी उस का नाम तो भगवान् ही जाने क्या होगा ! वस, यह समझ रखना चाहिये कि उत्पादक-अंगों की रक्तना पेट से भी कोमल है और यदि उन का दुरुपयोग किया जायगा तो उन की बीमारी इतनी भयंकर होगी जिस का कोई ठिकाना ही नहीं । अधिक विषयासक्ति से ही प्रदूर, गर्भ का गिर जाना आदि अनेक उपद्रव उठ सड़े होते हैं ; और फिर जब कोई स्त्री पैसे मिलने पर किसी को भी अपने पास आने दे, एक-ही दिन-रात में कईयों को आने दे, जिन की वह रक्ती-भर भी पर्वा नहीं करती या जिन से वह पूरी तौर पर धृणा करती है उन सब को अपने पास आने दे तो उस के गुह्य-अंगों में विष भर जाना स्वाभाविक है, जो

उस का संसर्ग करेगा वही उस विष से आक्रान्त हो जायगा।” रात्रि के एकान्त में वेश्यालय की तरफ कढ़म बढ़ाते हुए युवक को स्मरण रखना चाहिये कि ‘सब वेश्याएँ किसी-न-किसी समय रोगाक्रान्त होती हैं, और अनेक वेश्याएँ हर समय रोगाक्रान्त रहती हैं।’ वेश्याओं से जो वीमारियाँ समाज में फैल जाती हैं वे अत्यन्त भयानक हैं। प्लेग तथा हैने के कीटाणुओं को फैलाने वाले चूहों तथा मक्खियों की तरह वेश्याएँ भी गन्दे-गन्दे संक्रामक रोगों की वाहक हैं। प्रो० टारनौस्की का कथन है कि एक वेश्या ने १० महीनों में ३०० पुरुषों को उपदंश से पीड़ित कर दिया। ये पुरुष आगे चल कर जितनी सन्तति को रोगाक्रान्त कर देंगे उस का हिसाब लगाने से कुछ समझ आ सकता है कि वेश्यावृत्ति करने वाली ही समाज के लिये कितनी घातक है ! वेश्यागृह में प्रविष्ट होकर युवक इन विष-युक्त संक्रामक कीटाणुओं की गठरी को साथ बाँध लाता है, घर में आकर अपनी निष्कलंक पत्नी में उसी विष का संचार कर देता है। उस मूर्ख को पता नहीं होता कि अन्धकार में छिप कर किये हुए उस के पाप, दिन के समय, सब के सन्मुख, शरीर धारण कर, उठ खड़े होंगे और उस के अधःपतन का खुले-आम ढिढ़ोरा पीटेंगे, यहाँ तक कि कई सन्ततियों तक उस की गिरावट का ढिढ़ोरा पीटते जायेंगे। वह स्वयं रोग-पीड़ित हो जाता है; उस की पत्नी उस के पापों को भुगतती है; उस के बचे जन्मते-ही उस के पापों को लेकर पैदा होते हैं ! दैवीय नियमों का तिरस्कार करने वालों से बंदला लेते

समय प्रकृति रौद्र रूप धारण कर लेती है, और उस विकराल रूप में ही वह डिगने वालों को बचने का इशारा कर जाती है !

**वेश्यावृत्ति मुख्यतः आर्थिक-समस्या** तथा सामाजिक दुर्ब्यवस्था का परिणाम है। जहाँ तक इस का उद्देश्य आर्थिक होता है वहाँ तक यह खुले बाजार होती है, क्योंकि व्यापारी को बाजार की ज़खरत होती है। कभी-कभी आर्थिक कारणों के अभाव में भी यह वृत्ति पायी जाती है, और क्योंकि उस समय आर्थिक-समस्या कारण नहीं होती अतः ऐसी अवस्था में यह वृत्ति द्विषी रहती है। प्रत्येक शहर के बड़े आदमियों के विषय में कहानियाँ प्रचलित होती हैं : लोग कहते हैं : यह उस के यहाँ जाता है : वह उस के यहाँ जाती है : इन कहानियों में जहाँ फूट की मात्रा होती है वहाँ सन की मात्रा भी कम नहीं होती। जब परस्पर विरुद्ध गुण-कर्म-स्वभाव के स्त्री-पुरुषों को विवाह के बन्धन में जकड़ दिया जाता है तो थोड़े-ही दिनों में दोनों की आँखें खुल जाती हैं। जहाँ तलाकु हो सकता है वहाँ पति-पत्नी अद्वालतों का सहारा लेते हैं और जहाँ तलाकु नहीं हो सकता, एक बार की ग़लती को आजन्म मुग़तना होता है, वहाँ छिपे रास्ते निकल आते हैं। भारत में माता-पिता सन्तान का विवाह कर देना धार्मिक कृत्य समझते हैं, परन्तु इस पवित्र कार्य को करते हुए वे यह भूल जाते हैं कि जिन दो आत्माओं को जन्म-भर के लिये जोड़ने की वे ज़िम्मेवारी ले रहे हैं उन में कुछ समता भी है या नहीं ! जात-पात को वे देख लेते हैं,

परन्तु स्वभावों की अनुकूलता को, योग्यता की समानता को देखना वे आवश्यक नहीं समझते। इस से बढ़ कर दुःख की चात क्या हो सकती है कि विवाह जैसी घटना, जो जीवन में एक बार ही होती है, जिस पर मानव-जीवन का भविष्य निर्भर है, हो जाती है, और उस का जिन से संबंध-ज्यादह सम्बन्ध है उन से एक अक्षर तक नहीं पूछा जाता ! माता-पिता आपस में ही सब तय कर डालते हैं, मानो लड़के-लड़की की शादी क्या होगी, माता-पिता की शादी हो रही हो ! यह अवस्था गृहस्थों को अशान्त बना देती है, वे सीधे मार्ग से न चल कर उल्टे मार्ग से चलने लगते हैं। इसी दुर्ब्यवस्था को रोकने के लिये प्राचीन काल में 'स्वयंवर' होता था—माता-पिता की देख-रेख में, उन की संरक्षा में, उन की सलाह से, लड़की लड़के को वरती थी, और लड़का लड़की को स्वीकार करता था ! इसी प्रथा का फिर से प्रचार होना चाहिये ! देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने, विद्वाओं के साथ दुर्ब्यवहार को रोकने तथा गुण-कर्मानुसार विवाह की प्रथा को चलाने से ही वेश्यावृत्ति के प्रश्न को हल किया जा सकता है।

## दुश्शास्त्र अध्याय

‘हन्द्रिय-निग्रहः’

[ घ. स्वप्न-दोष ]

स्वप्न-स्वाभाविक-जीवन पर विचार करते हुए पहले लिखा गया था कि इसे दो भागों में बँटा जा सकता है:—जान-वूरु कर संयम तोड़ना और चिना-जाने संयम का टूट जाना। जान-वूरु कर संयम-हीन जीवन के मुख्यतः तीन प्रकार होते हैं जिन पर पिछले तीन अध्यायों में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। चिना-जाने संयम टूट जाना प्रायः स्वप्नावस्था में होता है, और इसीलिये इसे चालू भाषा में ‘स्वप्न-दोष’ कहा जाता है। पिछले तीन अध्यायों में वर्णित पाप मनुष्य की जागृतावस्था के पाप हैं, उन्हें मनुष्य जान-वूरु कर करता है; उन से बचना चाहे तो बच सकता है, इसलिये वे पाप हैं; स्वप्न-दोष सोते हुए हो जाता है, अपनी इच्छा के न होते हुए भी हो जाता है, कभी-कभी इसे रोकने की प्रवल इच्छा के होते हुए भी हो जाता है, इसलिये यह पाप नहीं परन्तु एक प्रकार का ‘रोग’ है।

स्वप्न-दोष का अर्थ है, सोते समय वीर्य-पात हो जाना। इस के विपर्य में बड़ा मत-भेद पाया जाता है। कईयों का कथन है कि यदि दो या तीन सप्ताहों में एक बार स्वप्न-दोष हो जाय तो

उस से कुछ हानि नहीं होती। कम-से-कम जिस स्वप्न-दोष के पीछे सिर-दर्द, भारीपन आदि न हों वह मनुष्य-शरीर के लिये स्वाभाविक है, फिर चाहे वह सप्ताह में एक बार हो या दो बार। जिस के पीछे मनुष्य अपने को खोखला-ता, यक्षा हुआ-ता अतुभव करे वह चाहे महीनों में एक बार ही क्यों न होता हो, अस्वाभाविक है, रोग का सूचक है। दूसरे लोगों का कथन है कि स्वप्न-दोष चाहे किसी प्रकार भी क्यों न हो, जीवन में चाहे केवल एक बार क्यों न हो, अस्वाभाविक है, रोग का सूचक है, स्वाभाविकता का कभी नहीं, किसी प्रकार भी नहीं!

इन दोनों विचारों में से पिछला विचार ही ठीक है। प्रकृति में इतनी फ़िजूलख़री नहीं हो सकती कि वह जीवन के सारं भाग को इस प्रकार लुटाने लागे। प्राणी का शरीर अटकल से बना हुआ नहीं है। जिन निसार पदार्थों की शरीर को आवश्यकता नहीं होती उन्हें भी शरीर से निकालने के लिये खास-खास रास्ते बनाये गये हैं, ताकि जब चाहें तब उन्हें शरीर से स्थारिज कर दें। मलाशय तथा मूत्राशय में मल-मूत्र संचित होता रहता हैं और प्राणी अपनी सुविधामुसार उन्हें निकालता है। यदि कोई बालक बैठा-बैठा बिना-जाने पेशाब कर दें, या विस्तर में पड़ा-पड़ा अनंजाने टृप्पी फिर दे तो हम समझते हैं कि उसे कोई बीमारी है, और अच्छे वैद्य की सलाह लेते हैं। जब मल-मूत्र भी अनंजाने नहीं निकलते तो वीर्य जैसे अमूल्य तत्व का सोते या जागते किसी समय भी अनंजाने निकले जाना

क्या कभी स्वाभाविक हो सकता है ? मल-मूत्र का तो बेग होता है, इन के बेग को रोकना कठिन होता है, फिर भी इन का यूँ की निकल जाना बीमारी है ; वीर्य का तो, जब तक मनुष्य अपने को विषय-धारा में वहां न दे, कोई ऐसा बेग ही नहीं होता, फिर इस का यूँ ही निकल जाना बीमारी नहीं तो क्या है ? अस्ल में यह बात ठीक मालूम पड़ती है कि मृत-देह की चीरा-फाड़ी करने वाले जीवित-देह के विषय में कुछ नहीं जानते, नहीं तो किसी डाक्टर को यह कहने का साहस न होता कि स्वम-दोप किसी श्रवस्था में स्वाभाविक भी है !

प्रश्न हो सकता है कि, फिर, कई बार स्वम-दोप के बाद सिर-न्दृद्दि, भारीपन थकावट आदि क्यों नहीं होते ; यही नहीं, कई लोग तो स्वम-दोप के बाद हल्का-सा अनुभव करते हैं, उन्‌की वैचानी दूर-सी हुई जान पड़ती है :— इन दोनों बातों का क्या कारण है ?

शारीर-शाख के प्रत्येक विद्यार्थी को ज्ञात होना चाहिये कि शरीर में एक आश्र्य-जनक जीविनी-शक्ति है जो शरीर के प्रत्येक ज्ञात का और रोग का स्वयं इलाज करती रहती है। औषधियों का काम उस संजीविनी-शक्ति को केवल सहायता पहुँचाना है। हृष्ट-पुष्ट लोगों के शरीर के किसी भाग से रुधिर बहने लगता है, परन्तु उन्हें मालूम नहीं होता कि चोट कर लगी थी। कभी-कभी तो मनुष्य अपने शरीर पर खुररड देख कर आश्र्य करने लगता है, क्योंकि उसे मालूम ही नहीं होता

कि यह कभी ब्रह्म के रूप में भी था। शरीर की संजीविनी-शक्ति उस के पता लगने से भी पूर्व उसे ठीक कर दोड़ती है। देर-देर से होने वाले स्वप्न-दोषों से, जिन का कोई बुरा असर निकाई नहीं देता, इसी प्रकार की हानि शरीर को पहुँचती है। शरीर की संजीविनी-शक्ति उस थोड़ी-सी हानि की पूर्ति कर देती है और मनुष्य समझने लगता है कि उसे कुछ नुकसान ही नहीं पहुँचा। यह मनुष्य की मूर्खता है। अस्ल बात यह है कि हानि पहुँची, और अवश्य पहुँची, परन्तु विश्व की संहारक शक्तियों पर रचनात्मक शक्तियों ने विजय पाया। वीर्य के एक विन्दु का नाश भी शरीर के लिये हानि-कारक है, यद्यपि जब तक यह हानि छोटे रूप में होती है, शरीर की संजीविनी-शक्ति उस हानि की स्वयं पूर्ति कर लेती है। इसलिये स्वप्न-दोष, जिस में अनजाने वीर्य-नाश हो जाता है, अस्वाभाविक तथा रुण अवस्था ही है, स्वाभाविक तथा स्वस्थावस्था नहीं !

‘स्वप्न-दोष से कई लोग वैचैनी दूर-सी हुई अनुभव करते हैं’—इस का भी स्वास करण है। स्वस्थ पुरुष स्वप्न-दोष के बाद कोई शारीरिक हानि अनुभव न करे यह तो सम्भव है, परन्तु वह इस से ‘वैचैनी दूर-सी हुई’ अनुभव करे यह असम्भव है, महा-असम्भव ! हाँ, अस्वस्थ पुरुष, ऐसा पुरुष जिस ने शारीरिक अथवा मानसिक अपवित्रता से अपने अन्दर काम-भाव उत्तेजित कर लिया हो, जिस ने गन्दे विचारों को मन में ला-ला कर स्नायु-तन्तुओं में तनाव उत्पन्न कर लिया हो, जो मनोविकारों में उद्घेलित हो उठा

हो परन्तु काम-वासना को पूर्ण न कर सका हो, ऐसा पुरुष ही स्वप्न-दोष से 'वेचैनी दूर-सी हुई' अनुभव कर सकता है। और, ठीक भी है। उस ने अपने काम-तन्त्रों को कृत्रिम उपायों से उत्तेजित कर के उन में जो वेचैनी पैदा कर दी है वह इसी प्रकार तो दूर हो सकती है। जब काम-भाव की गर्मी पैदा कर दी गई तो उस का निकास भी किसी-न-किसी प्रकार होगा— चाहे जान-वूफ़ कर, चाहे वे-जाने-वूफ़े, नहीं तो सारा स्नायु-चक्र अस्त-व्यस्त हो जायगा। परन्तु इस प्रकार क्यां सचमुच वेचैनी दूर हो जायगी ?—कभी नहीं ! इस प्रकार कुछ ज़णों के लिये वेचैनी मिट कर दुगुने और तिगुने वेग से उठे खड़ी होगी और कुछ मिन्टों के वेचैन और दीवाने को उम्र भर का वेचैन और उम्र भर का दीवाना बना देगी क्योंकि शक्ति-हीनता की वेचैनी सब से बड़ी वेचैनी है। स्वप्न-दोष से किसी की वेचैनी दूर हो जाती है, समझना, कुछ वेवकूफ़ों का चलाया हुआ वहम है—इस से वेचैनी दूर नहीं होती, बढ़ती है !

इसलिये यह मानना चाहिये कि स्वप्न-दोष का शरीर के स्वाभाविक विकास में एक ज़ण भर के लिये भी स्थान नहीं है। स्वप्न-दोष शरीर की रूणावस्था है। शायद यह कथन सुन कर कई युवक चौंक उठें और पूछ बैठें :— 'तो क्या संसार के किसी कोने में कोई ऐसा पुरुष है जिसे एक वार भी स्वप्न-दोष न हुआ हो ?' इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है :— 'यदि ऐसा पुरुष संसार में है नहीं; तो हो सकता है ; और

यदि कोई पुरुष पूर्ण-स्वस्थ है तो वह ऐसा ही है !' शायद यह उत्तर अत्यन्त संक्षिप्त है अतः इसे समझाने के लिये आवश्यक है कि पूर्ण-स्वस्थ पुरुष के जीवन के स्वाभाविक-विकास का एक स्थाका स्वीच दिया जाय जिस से स्पष्ट हो जाय कि उस के जीवन में स्वप्न-दोष का कोई स्थान है भी या नहीं ।

कल्पना करो कि एक सात वर्ष का बालक है जो पैत्रिक कुसंस्कारों से सर्वथा मुक्त है, पवित्र तथा शुद्ध परिस्थितियों में रहता है । वह राजसिक भोजन से बचता, शरीर तथा मन को पवित्र रखता, अच्छे साधियों से मिलता-जुलता और ब्रह्मचर्य के सब नियमों का विधिवत् पालन करता है । ऐसे बालक को जो वर्तमान सम्यता के कलुषित सम्पर्क से बचा हुआ है दस, बीस, पचास, सत्तर या सौ वर्ष—जितनी देर तक भी वह जीवित रहे—एक बार भी स्वप्न-दोष नहीं होगा । प्रकृति की ऐसी ही रचना है, परमेश्वर का ऐसा ही विधान है । इस मार्ग से अणु-भात्र भी विचलित होने वाले को दैवीय शासन के भंग करने का दण्ड मिलता है । हमारी कल्पना के जगत् का यह बालक आदर्श बालक होगा । वह मन में कुविचार का बीज तक न पड़ने देगा और इसीलिये १८ वर्ष की आयु में, कुमारावस्था आ जाने पर भी, उसे काम-वासना का अनुभव तक न होगा । उस के शरीर की रचना में इस आयु में वीर्य का 'अन्तःस्वाव' ही हो रहा होगा । और यह 'अन्तःस्वाव' अन्दर-ही-अन्दर उस के शरीर में खप रहा होगा, उस का शुकाशय अभी तक साली ही होगा ।

उसे, जानते हुए या अनजाने, किसी प्रकार के वीर्य-स्नाव का अनुभव ही नहीं होगा। वह इस घटना से ही अनभिज्ञ होगा। कुमारावस्था के अनन्तर, जब वह पचीस वर्ष के लगभग होने लगेगा, युवक हो जायगा, तब 'वहि:स्नाव' स्वयं प्रकट होकर शुक्राशय को भरने लगेगा। पचीस वर्ष की अवस्था में वहि:स्नाव का प्रकट होना उस के शरीर के स्वाभाविक विकास का परिणाम होगा, इस के लिये मानसिक उत्तेजना की आवश्यकता न होगी। इस आयु में 'वहि:स्नाव' का प्रकट होना ऐसा ही स्वाभाविक होगा जैसा पक्ने पर फल का शाखा से टपक पड़ना। अब तक जो शारीरिक वृद्धि हुई उस का यह अवश्यम्भावी परिणाम होगा। इस स्थल पर यह न भुलाना चाहिये कि 'वहि:स्नाव' केवल अन्तःस्नाव + शुक्र-कीटाणु का ही नामान्तर है। इन शुक्र-कीटाणुओं में स्वाभाविक गति होती है। यही गति, हमारे काल्पनिक पूर्ण-स्वस्थ पुरुष में काम-भाव के उत्पन्न होने का भौतिक कारण होती है। शुक्र-कीटाणुओं की गति भौतिक गति है, काम-भाव मानसिक गति है, दोनों का एक दूसरे के साथ कारण-कार्य का सम्बन्ध स्पष्ट है। जब काम-भाव इस प्रकार उत्पन्न होता है तब वह स्वाभाविक होता है, बढ़ते हुए शरीर की एक आवश्यक अवस्था का घोतक होता है, और इसीलिये आदर्श होता है। पचीस वर्ष की आयु के बाद उक्त पुरुष के सामने दो रास्ते खुले हो सकते हैं। यदि वह आजन्म ब्रह्मचर्य का जीवन विताना चाहता हो तो उसे 'वहि:स्नाव' को शरीर में खपा लेने के रहस्य-मय

मार्ग का, जिसे प्राचीन परिभाषा में 'ऊर्ध्वरेता' का मार्ग कहा जाता था और जिस का अभ्यास ऋषियों के आश्रमों—गुरुकुलों—में किया जाता था, अवलम्बन करना होगा और आदित्य-ब्रह्मचारी के आदर्श को जीवन में धटाना होगा। 'वहि:स्वाव' को, अर्थात् शुक्र के उस भाग को जो शुक्राशय में आ पहुँचा है, शरीर में खपा लेना एक विद्या थी, जिस का अभ्यास कोई विरला ही करता था। 'वहि:स्वाव' में एक नवीन प्राणी को उत्पन्न करने की शक्ति है; इसे यदि अपने अन्दर खपाया जा सके तो इस के द्वारा पुरुष के अपने शरीर तथा मन में भी नवीन शक्ति उत्पन्न हो सकती है। ब्रह्मचर्य का अभिप्राय वीर्य की भौतिक शक्ति को, साधना से, आध्यात्मिक शक्ति के रूप में बदल देना है। प्राणि-जगत् में काम-भाव एक अत्यन्त उग्र, उत्कट, शक्ति की धारा है जिसे पशु-पक्षी रूपान्तरित नहीं कर सकते, जिस से वे अपने जैसे दूसरे प्राणी ही उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु मानव-जगत् में इस प्रबल, वेगवती धारा को जहाँ नये प्राणी उत्पन्न करने में लगाया जा सकता है वहाँ, इस की दिशा बदल कर, इस की असीम शक्ति के बल से ही, आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश किया जा सकता है। नदी का जल-प्रपात जल का वेग ही तो है, परन्तु उसी वेग को रूपान्तरित कर के विद्युत् का असीम भण्डार पैदा किया जा सकता है। वीर्य को खर्च न किया जाय, उसे अन्दर-ही-अन्दर खपाया जाय, तो वह भी जल के वेग की तरह रूपान्तरित होकर विद्युत् की-सी शक्तियाँ उत्पन्न कर सकता

है। इस मार्ग के अतिरिक्त दूसरा मार्ग भी पच्चीस वर्ष के बाद खुला है। यदि वह पुरुष, जिस का हम चित्र स्थिंत्र रहे हैं, आजन्म ब्रह्मचारी नहीं रहना चाहता तो वह विवाह करा सकता है। इस प्रकार वह अपनी उत्पादक-शक्ति का उपयोग नवीन प्राणी उत्पन्न करने में करेगा। विवाह में भी वह प्राकृतिक जीवन ही व्यतीत करेगा। जिस प्रकार उस में कामेच्छा प्राकृतिक तौर से उत्पन्न हुई, उसी प्रकार स्त्री-प्रसंग की इच्छा भी उस में प्रकृति द्वारा ही नियमित होगी। शुक्र-कीटाणुओं की स्वाभाविक गति से उस में काम-भाव उत्पन्न हुआ; शुक्राशय के पूरा भर जाने से उस में प्रसंगेच्छा उत्पन्न होगी। उस का शुक्राशय जल्दी-जल्दी न भरेगा। उस ने काम-भाव को जगाने के लिये कभी अपने को उत्तेजित करने का तो प्रयत्न किया ही नहीं—कामेच्छा तो उस में प्रकृति के नियमों के अनुसार शरीर की एक खास अवस्था में ही स्थिंत्र उत्पन्न होती है। क्योंकि वह शुक्रोत्पादक अवयवों को उन की स्वाभाविक गति से चलने देता है, उन पर अप्राकृतिक दबाव नहीं डालता, इसलिये उस के शरीर में ‘अन्तःस्वाव’ तो होता ही रहता है, परन्तु ‘वहिःस्वाव’ होकर शुक्राशय को भरने में पर्याप्त समय लगता है। प्राणि-शरीर का स्वभाव है कि उसे जिन अवस्थाओं तथा परिस्थितियों में रखा जाय वह उन्हीं के अनुकूल बन जाता है। शुक्रोत्पादक अवयव ‘वहिःस्वाव’ उत्पन्न करते हैं। यदि किसी को इस की जल्दी-जल्दी आवश्यकता होती है तो वे भी जल्दी-जल्दी शुक्राशय को भरते रहते हैं; यदि

किसी को देर में आवश्यकता होती है तो वे भी धीरे-धीरे काम करते हैं। स्वाभाविक-जीवन व्यतीत करने वाले आदर्श-व्यक्ति के लिये वेद की आज्ञा है कि वह अद्वाई या तीन साल में एक सन्तान उत्पन्न करे इसलिये उस के उत्पादक-श्रंग इस गति से काम करते हैं कि उस के शुक्राशय अद्वाई साल में, या तीन साल में भरते हैं। शुक्राशय के भरने के समय को इच्छा-पूर्वक धटाया या बढ़ाया जा सकता है। जल्दी-जल्दी शुक्राशय के भर जाने का अभिप्राय यह है कि 'वहिःस्वाव' बार-बार निकले। 'वहिः-स्वाव' जब भी निकलेगा 'अन्तःस्वाव' में रुकावट डाल कर ही निकलेगा। 'अन्तःस्वाव' की रुकावट का अभिप्राय शरीर की वृद्धि का रुकना है। अतः कुचेष्टाओं और कुविचारों से बार-बार शुक्राशय को भर कर ख़ुराब होने में वहादुरी नहीं, वहादुरी है कुचेष्टाओं तथा कुविचारों की जड़ काट कर 'वहिःस्वाव' न होने देने में, और 'अन्तःस्वाव' में द्वाण भर के लिये भी रुकावट न आने देने में। इस प्रकार काम-भाव को अपने काबू कर लेने का नाम ही गृहस्थी का ब्रह्मचर्य है, और निससन्देह यह ब्रह्मचर्य ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य से भी कठिन है। गृहस्थी के लिये यही योग है, क्योंकि योग 'निरोध' का ही तो दूसरा नाम है। जिस आदर्श व्यक्ति का हम ने चिन्न खींचा है उस के समान निरोध करने वाला दूसरा कौन हो सकता है !

मैं मानता हूँ कि यह चित्र एक आदर्श व्यक्ति का है। कियात्मक जगत् में ऐसा व्यक्ति, जिस का आन्तरिक विकास

उक्त रूप से हुआ हो, मिलना प्रायः असम्भव है। परन्तु यह चिन्त्र जान-बूझ कर खींचा गया है। इस का उद्देश्य केवल यह बतलाना है कि मनुष्य के स्वाभाविक विकास में स्थान-दोष का कोई स्थान नहीं है। स्वस्थ व्यक्ति के जीवन में वीर्य के निकास का केवल एक ही उपाय है, और वह है जानते हुए निकास; अनजाने निकास का होना अस्वाभाविक तथा रुग्ण अवस्था का सूचक है। यदि पुरुष स्वस्थ रहना चाहे तो जानते हुए वीर्य का निकास भी केवल गृहस्थ-धर्म में, और वह भी तब, जब प्रकृति की मांग हो, होना चाहिये। अस्वाभाविक, कृत्रिम उपायों से, भावावेशों में आकर ऐसा काम कर बैठना महा-भयंकर पाप है।

परन्तु हमें आदर्श व्यक्तियों से काम नहीं पड़ता। जिन युवकों की जीवन-समस्याओं को हमें हल करना है वे वंशानुगत रोगों से भी मुक्त नहीं होते। भगवान् जाने उन के माता-पिता, दादा-पड़दादा तथा अन्य पूर्वजों ने किन-किन रोगों का संग्रह किया होता है। आज का बालक उन सब पूर्वजों के पापों की गठरी सिर पर लाद कर पैदा होता है। पैदा होने के बाद भी उसे का पालन-पोषण स्वास्थ्य के नियमों के अनुसार नहीं होता। बालक के पेट को उत्तेजक पदार्थों से भर देने में कोई कसर नहीं उठा रखी जाती, उसे गन्दगी में खुला छोड़ दिया जाता है; आचार-ब्रष्ट, पतित साथियों के साथ बे-रोक-टोक खेलने दिया जाता है, ब्रह्मचर्य के एक-एक नियम को गिन-गिन

कर खूब सावधानी से तोड़ा जाता है। यदि ऐसी सड़ी हुई परिस्थितियों में पल कर बालक १४-१५ वर्ष की आयु में ही स्वप्न-दोष की शिकायत करने लगे तो आश्चर्य की कौन-सी बात है? जिस अख्याभाविक जीवन में उन्हें रखा जाता है उस से उन में काम की प्रवृत्ति शीघ्र-ही जाग उठती है। पूर्ण-खस्य पुरुष के वीर्य-कोश वीस वर्ष की आयु में भी विलकुल खाली होते हैं, परन्तु यहाँ छोटे-छोटे बच्चों के वीर्य-कोश, तेरह-चौदह वर्ष की आयु में ही उत्पादक-अंगों के स्वाव से भर जाते हैं। यह तो संसार का मोटा-सा नियम है। माँग जलदी शुरू हो गई—छोटी आयु में ही अरण काम करने लगे—‘बहिःस्नाव’ भी जलदी-ही निकलना शुरू हो गया। ज्यों-ज्यों माँग बढ़ती गई, त्यों-त्यों स्नाव भी बढ़ता गया। वीर्य-कोश भर कर खाली हुए—फिर भरे, फिर खाली हुए—बस, स्वप्न-दोष का सिलसिला जारी हो गया। सप्ताह में एक बार—दो दिन में एक बार—हर रोज़—और एक रात में कई बार,—माँग के पैदा होने और पूरा होने का चक्र इस भयंकर बैग से चलने लगता है! यह ‘बहिःस्नाव’ जितना बढ़ता है उतना ही ‘अन्तःस्नाव’ घटता है, क्योंकि बालक में तो ‘अन्तःस्नाव’ ही ‘बहिःस्नाव’ के रूप में प्रकट होता है, और बड़ी उम्र में ‘अन्तःस्नाव’ + शुक्र-कीटाणुओं का नाम ही ‘बहिःस्नाव’ है। ‘अन्तःस्नाव’ के सूख जाने से जो हानियाँ होती हैं वे स्वप्न-दोष के रोगी के चेहरे पर भलकरे लगती हैं।

यह सब स्वीकार करते हैं कि वर्तमान सम्यता की सन्तान प्रायः सभी अस्वस्य है। आदर्श, पूर्ण-स्वस्य व्यक्ति से हम लोग कोसों की दूरी पर खड़े हैं—लज्ज्य से अत्यन्त अधिक विचलित हुए पड़े हैं! ऐसी अवस्थाओं में साधारण रूप से स्वस्य कहे जाने वाले व्यक्ति के लिये क्रियात्मिक सलाह यही दी जा सकती है: “जब रात को अनजाने किसी स्वप्न में काम-वश बहुत बार वीर्य नाश होने लगे तो उस से भारी हानि पहुँचती है। यदि दो या तीन सप्ताह में एक बार ही हो, और ऐसा होने पर कम-ज़ोरी के लज्जण न दिखाई देते हों, तो ज्यादह चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं। परन्तु यदि सप्ताह में दो बार या इस से अधिक बार स्वप्न-दोष होने लगे तो उसे रोकने के लिये अवश्य हाथ-पैर मारने चाहियें, नहीं तो इस का परिणाम स्नायु-शक्ति के लिये अत्यन्त घातक होगा। रोगी कमज़ोर तथा चिड़-चिढ़ा हो जायगा, उस का स्वास्थ्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा।” यह सब-कुछ होते हुए भी यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि स्वप्न-दोष चाहे कितनी देर के बाद ही क्यों न हो सद्गुर शरीर की अस्वाभाविक अवस्था का ही सूचक है, स्वाभाविक का कभी नहीं।

स्वप्न-दोष कैसे होता है? पहले-पहल उत्तेजना होती है, फिर कोई कामुकता का स्वप्न आता है, उसी स्वप्न में वीर्य-स्नाव हो जाता है। वीर्य-स्नाव होते ही एक-दम आँखें खुल जाती हैं, आत्म-स्नानि, असमर्थता, लज्जा और निस्सारता के भाव चारों तरफ से धेर लेते हैं। स्वप्न-दोष के बाद चिंत-वृत्ति का यही

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। कभी स्वप्न से उत्तेजना हो जाती है, कभी उत्तेजना से बुरा स्वप्न आने लगता है। उत्तेजना तथा स्वप्न दोनों वीर्य-स्राव से पहले होते हैं। यदि वीर्य-स्राव न हो तो कोई ज्यादह हानि नहीं होती। परन्तु यदि बुरे स्वप्न बढ़ने लगें तो अन्त में स्वप्न-दोष भी होकर ही रहता है, और यदि स्वप्न-दोष बढ़ने लगें तब तो नाजुक हालत आ पहुँचती है। बढ़ते-बढ़ते ऐसी अवस्था भी आ जाती है जब बिना उत्तेजना के ही वीर्य-स्राव होने लगता है—बुरा विचार मन में आते ही स्वप्न-दोष हो जाता है, उत्तेजना होने भी नहीं पाती! बार-बार उत्तेजना होने का भयंकर परिणाम उत्तेजना का मिट जाना होता है! बस, इसी का नाम नयुसकता है! परन्तु इतने पर भी वंस नहीं होता। स्वप्न-दोष के रोगी के सन्सुख इस से भी भयंकर अवस्था आने वाली होती है। अब अनजाने, रात को स्वप्न में ही नहीं परन्तु जागते हुए दिन को भी, उस का वीर्य स्वलित होने लगता है और वह बेचारा जीवन से निराश होकर दुःख की सिसकियाँ भरता हुआ अपनी आत्मा से पूछता है:—‘क्या मेरे मरने का कोई उपाय नहीं?’

पहले-पहल स्वप्न-दोष का अनुभव कर बालक ‘किंकर्तव्य-विमूढ़’-सा हो जाता है। वह ज्यों-ज्यों इसे रोकने की कोशिश करता है त्यों-त्यों इसे बढ़ते देख कर तो बहुत ही घबरा जाता है। जब इस के कारण उसे अपने अन्दर कमज़ोरी के चिन्ह झलकते दिखाई देने लगते हैं तब तो उस की चिन्ता चरम सीमा

तक पहुँच जाती है। यदि बालक स्वभाव से धार्मिक प्रवृत्ति का है और समझता है कि उस ने जानते-बूझते कोई ऐसा काम नहीं किया जिस से उसे स्वप्न-दोष की शिकायत हो तब तो उस की चिन्ता सीमा को भी लाँघ जाती है। वह निःसहाय अवस्था में चिल्हा पड़ता है:—‘मेरी साधनाओं का क्या फल, मेरे उपचारों का क्या फ़ायदा?’ परन्तु उसे निराश होकर हिम्मत हार देने की अपेक्षा शिकायत के कारण का अनुसन्धान करना चाहिये। स्वास्थ्य के छोटे-छोटे नियमों के उल्लंघन से कई विषम समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिये, हम यहाँ स्वप्न-दोष के कारणों तथा उस की विकित्सा पर कुछ विचार करेंगे।

### कारण तथा चिकित्सा

जैसा पहले कई बार दोहराया जा चुका है, अनजाने वीर्य का नाश हो जाना रोग की अवस्था का सूचक है। पूर्ण-स्वस्थ पुरुष में कुमारावस्था के आने पर भी वीर्य-कोश खाली ही रहने चाहिये क्योंकि उस समय शारीरिक तथा मानसिक विकास के लिये अन्तःस्नाव की अत्यन्त आवश्यकता होती है। परन्तु क्योंकि हम अस्वाभाविक अवस्थाओं में जीवन यापन कर रहे हैं इसलिये आजकल बालकों में काम-भाव की जागृति बहुत छोटी आयु में हो जाती है, फलतः उन के वीर्य-कोश में छोटी आयु में ही वीर्य संचित होने लगता है, और छोटी आयु में ही वह नष्ट भी होने लगता है। यद्यपि वीर्य-नाश के भौतिक तथा मानसिक कारणों को

पृथक्-पृथक् कर सकना असम्भव है। तथापि विचार की सुगमता के लिये हम इन दोनों पर पृथक्-पृथक् ही विचार करेंगे, और कारणों के साथ-साथ चिकित्सा पर भी विचार करते जायेंगे। स्वप्न-दोष के भौतिक-कारण ये हैं:—

### भौतिक-कारण तथा चिकित्सा

(१) भोजन—कई लोग ‘खाने के लिये जीते’ हैं; जो सामने आया वही पेट में दूँस लेते हैं, ज्ञाधा-निवृत्ति के लिये नहीं परन्तु निहूवा के रस के लिये हर समय मुँह चलाते रहते हैं। जो खाया जाय, वह यदि सब पच जाय तो कोई बुराई नहीं, परन्तु ऐसा होता नहीं, भूख से ज्यादह खाया ही जाता है। भोजन का जो भाग नहीं पचता वह पेट में सड़ने लगता है और सम्पूर्ण पाचन-प्रणाली में उथल-पुथल मचा देता है। पाचन-प्रणाली तथा जनन-प्रणाली का आपस में गहरा सम्बन्ध है; जब पहली में सड़ाँद पैदा होकर जलन उत्पन्न होती है तब दूसरी उस के असर से बची नहीं रह सकती। जब यह जलन जनन-प्रणाली में होती है तो उस से उत्तेजना होने लगती है, मनुष्य की मानसिक अवस्था बिगड़ जाती है। इस जलन से ही सोते-सोते स्वप्न-दोष हो जाता है। अपचन से जनन-प्रणाली की जो दुरवस्था ज़रा लम्बे रास्ते से होती है वही मिर्च, मसाले, अचार, मिठाई, चाय, काफ़ी आदि से सीधी होती है। इन का असर सीधे तौर से उत्पादक-अंगों पर होता है। इन के

खाने से कोई लाभ भी नहीं होता—केवल जिह्वा का एक प्रलोभन है। सायंकाल चिंगली की रोशनी में सबी हुई बाज़ार की मिठाईयों के ढेर को देख कर किस शौकीन की जीभ से लार नहीं टपक पड़ती। फौरन जेव से पैसे निकल पड़ते हैं—सैकड़ों मक्खियों की सूचम विष्ठाओं से भरा हुआ दुष्पच शक्कर का ढेला पेट में पहुँच जाता है, ऊपर से सोडे की एक बोतल या चाय का एक प्याला गटक लिया जाता है। उस बिहंगम से पूछो:—‘क्या तुझे भूख लगी थी?’ वह कहेगा—‘नहीं, भूख तो नहीं लगी थी, परन्तु वह ऐसे नज़ारे को देख कर रुक नहीं सका।’ क्या कोई सोच सकता है कि इस प्रकार उच्छ्वस्त फिरते हुए युवक को प्रकृति क्रमा कर देगी? नहीं—कदापि नहीं!

इसलिये स्वप्न-दोष से बचने के लिये सब से पहली बात है भोजन पर ध्यान देना। दिन में दो बार, नियमित समयों पर, परिमित सात्त्विक भोजन करना सब को सीखना चाहिये। ‘खाने के लिये जीने’ के स्थान पर ‘जीने के लिये खाना’ चाहिये। जिह्वा से पूछने के स्थान पर खाने से पहले पेट की सलाह लेनी चाहिये। इस प्रकरण में जान-वूफ कर मांस तथा शराब का ज़िक्र नहीं किया गया, क्योंकि मैं समझता हूँ कि इस पुस्तक के पढ़ने वाले इन धृणित पदार्थों को ब्रह्मचर्य जैसे पवित्र विचार के साथ जोड़ने की मूर्खता कभी नहीं करेंगे।

( २ ) मूत्राशय तथा मलाशय का भरा होना— हमारा जीवन ऐसी अस्वाभाविक परिस्थितियों में बीतता है जिन से छोटी

आयु में ही शुक्र-कोश में वीर्य सञ्चित होने लगता है। शुक्र-कोश के आमने-सामने मूत्राशय तथा मलाशय हैं जिन दोनों के भर जाने से शुक्र-कोश पर दबाव पड़ने लगता है। यदि सोने से पहले ज्यादह खा-पी लिया जाय तो रात में मूत्राशय तथा मलाशय के भर जाने के कारण शुक्र-कोश पर दबाव पड़ कर शुक्र के निकल जाने की सम्भावना होती है। कभी-कभी शौच के समय ज्यादह दबाव पड़ने से भी शुक्र निकल सकता है। इसी कारण कञ्ज से भी कभी-कभी यही दोष हो जाता है।

स्वप्न-दोष के रोगी को या तो सायंकाल का भोजन त्याग देना चाहिये, अन्यथा अल्पाहार करना चाहिये। कई बालक सोने से पहले पानी या दूध पी लेते हैं, यह छोटी-सी बात ही कई बार स्वप्न-दोष का कारण हो जाती है। सोने से पूर्व पानी या दूध पीना छोड़ देने के छोटे-से संयम से कई बार बालकों की बड़ी-बड़ी चिन्ताएँ दूर हो सकती हैं। सोने से पहले लघु-शंका कर लेना बहुत अच्छा है। बीमारी बढ़ गई हो तो पेट साफ़ कर के सोना चाहिये। रात में एक बार उठ कर पेशावर कर लेना और भी अधिक उपयोगी है। सीधे लेट कर या ढाती पर हाथ रख कर सोने से भी कई बार उपद्रव खड़े हो जाते हैं। पीठ के पीछे कपड़े की गाँठ बाँध लें तो सीधे लेटने से बचा जा सकता है।

( ३ ) गन्दगी, खुनली और जलन—कभी-कभी मूत्राशय में गन्दे पदार्थ इकट्ठे हो कर उस में जलन पैदा कर देते हैं। यह जलन मूत्र-प्रणाली में से होती हुई शुक्र-कोश तक पहुँच

जाती है जिस से स्वप्न-दोष होने लगता है। सात्त्विक भोजन तथा चिरायता आदि रक्त-शोधक श्रौपधियों के सेवन से मूत्र के जलन उत्पन्न करने वाले पदार्थ को दूर किया जा सकता है। कभी-कभी उत्पादक-अंगों में मैल इकट्ठा होता रहता है, जिस से खुजली और जलन दोनों उत्पन्न हो जाते हैं। इन का परिणाम हस्त-मैथुन तथा स्वप्न-दोष दोनों हो सकते हैं, अतः सदा इन अंगों की सफाई रखनी चाहिये। पेशाव की तथा जनने-निद्रय की घातक वीमारियों से भी स्वप्न-दोष हो जाता है।

( ४ ) हस्त-मैथुन तथा अतिमैथुन—यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि जिन कामों को जानते-बूझते बार-बार किया जाता है वे मनुष्य की अन्तरात्मा का भाग बन जाते हैं, और फिर, धीरे-धीरे, उन के करने में इच्छानशक्ति के लगाने की आवश्यकता ही नहीं रहती। तभी तो अनजाने 'स्वप्न-दोष हो जाता है। यह स्वप्न-दोष, जो अनजाने सोते हुए होता है, कभी-कभी हस्त-मैथुन तथा अतिमैथुन का ही परिणाम होता है। मैकफेडन महोदय अपनी पुस्तक 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ फ़िज़िकल कल्चर' में लिखते हैं:—'यदि कोई व्यक्ति जिसे हस्त-मैथुन की लत पड़ चुकी हो एकदम इस आदत को छोड़ दे तो उसे कुछ देर तक स्वप्न-दोष होने लगेंगे। उस का शरीर न बर्दास्ती वीर्य-स्राव का आदी हो चुका है। इसी प्रकार जिन्हें विवाहितावस्था में अत्यधिक विषय-भोग की लत-सी पड़ जाती है वे भी यदि इकले हो जायें तो कुछ दिनों तक स्वप्न-दोष के शिकार रहते हैं। शरीर

को नई परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालने में कुछ देर लग ही जाती है।' अतः स्वप्न-दोष से बचने के लिये यह पहले आवश्यक है कि रोगी मनुष्य का सर्व-नाश कर देने वाली हस्त-मैथुन तथा अतिमैथुन की आदतों से भी बचे।

कभी-कभी जागते समय की अतृप्ति अथवा द्वा-दी-गई कामेच्छा सोते समय अपना मार्ग बना लेती है। नव-युवकों को यह बात सदा के लिये गाँठ बाँध रखनी चाहिये कि ऐसी कामेच्छा, जिसे जगा दिया हो परन्तु तृप्ति न किया हो अथवा आधा तृप्ति कर के ही छोड़ दिया हो, मनुष्य के स्नायु-तन्तुओं को ऐसा घका पहुँचाती है जो हस्त-मैथुन तथा अतिमैथुन से भी अधिक घातक होता है। परन्तु इस का यह अभिप्राय नहीं कि पिछले दोनों अच्छे हैं—इन के घातक पारेणामों पर तो पहले ही बहुत कुछ लिखा जा चुका है। वह अतृप्ति कामेच्छा मस्तिष्क में एक बार प्रविष्ट हो कर स्नायु-तन्तुओं में घोर संग्राम सचा देती है। ऐसी इच्छा जो तृप्ति नहीं की जा सकती या अच्छी तरह से तृप्ति नहीं की जा सकती उत्पन्न ही नहीं होने देनी चाहिये, यही बुद्धिमत्ता है।

जिन्हें जागते समय हस्त-मैथुन की आदत होती है वे सोते समय भी इस से नहीं बचते। डा० एलवर्ट मौल 'सैक्षुअल लाइफ़ ऑफ़ ए चाइल्ड' में लिखते हैं:—‘सोते-सोते बच्चे हाथ से जनने-निद्र्य का अनजाने संचालन करने लगते हैं। कई स्पष्ट उदाहरण इस प्रकार के सामने आये हैं. जिन में निश्चय हो गया कि व्यक्ति

जाग नहीं रहा, सो रहा है, और सोते हुए अनजाने हस्त-मैथुन कर रहा है। मैंने कई बार सारी रात जाग कर कई बच्चों का निरीक्षण किया है और मैं इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि कई बार सोता हुआ चालक हाथों को गुल-अंगों की तरफ ले जाता है।—इस व्याख्या से बच्चने के लिये जहाँ जागृतावस्था में हस्त-मैथुन से बचना चाहिये वहाँ सोते हुए हाथों को एक खास दिशा में बाँध रखना चाहिये जिस से वे नीचे को न जा सकें।

(५) कमज़ोरी—कभी-कभी स्तम्भन-शक्ति के न होने से भी स्वप्न-द्वोप हो जाता है। उचित व्यायाम से ही कमज़ोरी दूर हो सकती है। संसार की सारी द्रवाइयाँ मिल कर उस का आधा भी गुण नहीं कर सकतीं जितना ब्रह्मचर्य के अनुसार सादा जीवन कर सकता है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के विषय में उन की वैश्यक्तिक कठिनाइयों तथा जीवन-घटनाओं को जान कर ही कुछ कहा जा सकता है। फिर भी लोगों का द्रवाइयों पर विश्वास है ही। इसलिये साधारण तौर पर यहाँ कुछ द्रवाइयों का उल्लेख किया जाता है जो ब्रह्मचर्य में सहायक हो सकती हैं:—

i. बट का ताजा दूध, १ द्वैंद्व, एक महीने तक बतासे में डाल कर प्रातःकाल खाली पेट नियम-पूर्वक खाना।

ii. सफेद मुसली, कबाव चीनी, गिलोय का सत—तीनों को समान भाग ले कर चूर्ण बना लेना। आँखों को पानी में भिगो कर, छान कर, औपधि की ६ रक्ती मात्रा उस पानी के साथ प्रातःकाल लेना।

iii. दूर्वा घास, मौलसरी के फलों की गुठली, आवलाँ, कर्पूर—इन्हें समझा लेकर पुराने गुड़ के साथ मिला कर छोटे वेर के समान गोलियाँ बना ले और सोने से पहले ठण्डे जल के साथ एक गोली खा ले ।

iv. सफेद मुसली १२ रत्ती, जायफल ४ रत्ती, आँवला १२ रत्ती—इन को मक्खन तथा मिस्ती के साथ मिला कर खाये ।

v. कीकर की गोंद २ तोला, रुमी मस्तकी १ तोला, आँवला २ तोला, कर्पूर ३ माशा—इन्हें धीक्कार के रस में मर्दन कर के धूप में सुखा ले । फिर धीक्कार के रस में मर्दन कर के सुखाये । दो-तीन बार ऐसा कर के चूर्ण कर के रख ले । प्रातः-काल १॥ माशा मक्खन और मिली के साथ सेवन करे ।

### मानसिक-कारण तथा चिकित्सा

स्वप्न-दोष के जिन भौतिक कारणों का उल्लेख किया जा चुका है उन के अतिरिक्त इस के मानसिक कारण भी हैं । ये के हुए आदमी को स्वप्न नहीं सताते । सोने से पहले खूब व्यायाम कर के जो लोग यक कर सोते हैं उन्हें स्वप्न-दोष नहीं होता क्योंकि उन्हें स्वप्न ही नहीं आता । स्वप्न-रहित निद्रा का ला सकना स्वप्न-दोष का सब से बढ़िया इलाज है । हम प्रायः यू ही विस्तर पर लेट जाते हैं, चाहे नींद आ रही हो, या न आ रही हो, और यदि नींद उचट गई हो तो भी यू ही पड़े-पड़े करके बढ़लते रहते हैं । जीवन के वे काण विरले होते हैं जब हमें

गाढ़ निद्रा आती हो ! बहुत-सा समय तो विस्तर में पड़े-पड़े ही गुजर जाता है । मध्य-रात्रि के समय प्रगाढ़ निद्रा आती है, उस समय स्वप्न भी नहीं आते । यदि कोई तभी तक सोए जब तक गाढ़ी नींद आती हो और नींद टूट जाने पर विस्तर छोड़ उठ बैठे तो उसे स्वप्न-दोष का ढर नहीं रहेगा । खूब व्यायाम कर के, शरीर को थका कर, विस्तर पर पाँव रखो, और नींद टूटते ही उसे छोड़ अलग हो जाओ । गाढ़ी नींद आने से पहले और पीछे दो अवसर हैं जिन की ताक में शैतान हर समय आँख लगाये बैठा रहता है । उस समय मनुष्य न जाग ही रहा होता है, न सो ही रहा होता है, ना ही उस समय वह अपने काबू में होता है । ऐसी अवस्था में ही पैशाचिक भाव चोरी से मन में प्रविष्ट होते हैं—प्रविष्ट क्या होते हैं, मन में जाग जाते हैं । बस, उस समय स्वप्न आने लगते हैं—भयंकर स्वप्न—कामुकता के स्वप्न—उत्तेजना-पूर्ण स्वप्न—चिन्ता-पूर्ण स्वप्न—और उन स्वप्नों के साथ ही आत्म-गलानि उत्पन्न करने वाले स्वप्न-दोष !

मनुष्य का मन, यदि जाग रहा हो तो, खाली नहीं रह सकता । वह कुछ-न-कुछ अवश्य करेगा । बिना नींद के विस्तर पर पड़ जाने का क्या परिणाम होगा ? नींद तो आयी नहीं ; पड़े हुए कुछ काम भी नहीं ; परन्तु मन को कुछ काम ज़रूर चाहिये । बस, मन सप्ने लेने शुरू करता है । सब स्वप्नों से मनुष्य को हानि नहीं पहुँचती । कई स्वप्न तो बड़े मनेदार होते हैं । कई स्वप्नों से भविष्य की छिपी कोठरी की भाँकी भी मिल

जाती है। परन्तु उन स्वप्नों से हमें यहाँ मतलब नहीं। हमें तो उन्हीं स्वप्नों से मतलब है जो स्वप्न-दोष का कारण होते हैं। ऐसे स्वप्न दो प्रकार के होते हैं:— कामुकता के स्वप्न और चिन्ता उत्पन्न करने वाले स्वप्न।

(१) कामुकता के स्वप्न—ऐसे स्वप्न मन की आधी जागती, आधी सोती अवस्था में आते हैं। ऐसी अवस्था दिन में भी आती है, रात में भी। दिन में मनुष्य कुर्सी पर पड़ा-पड़ा ऊँचा करता है, और यह ऊँचा स्वप्नमय होता है; रात को विस्तर पर लेटे-लेटे कामुकता के विचारों में खेलने लगता है। दिन को तो ये स्वप्न प्रायः लगातार चलते हैं, रात को टूट-टूट कर आते हैं। लगातार चलने वाले स्वप्न एक दिन एक जगह समाप्त होकर अगले दिन फिर आगे चल पड़ते हैं। स्वप्न लेने वाले के ध्यान में कोई प्रेमी होता है, उसी को लक्ष्य में रख कर स्वप्न चलता रहता है। प्रतिदिन वीर्य-सूच अथवा अन्य किसी आकस्मिक घटना से यह ऊँचे टूटती है। असम्बद्ध-से, टूटे हुए-से, और अचानक उपज जाने वाले स्वप्न भी दिन को आते हैं, परन्तु प्रायः वे रात को ज्याद़ हआते हैं। रात को सोते हुए अचानक ही कोई स्वप्न आने लगता है, और स्वप्न-दोष होते भी देर नहीं लगती। स्वप्न का मसाला मन को जागती अवस्था से ही मिलता है। जो विचार तथा अनुभव दिन को हुए होते हैं वे ही नया-नया रूप धारण कर सोते समय मनुष्य के सामने आ खड़े होते हैं। इन स्वप्नों का आधार प्रायः जागृतावस्था में मिल ही जाता है।

( २ ) चिन्ता उत्पन्न करने वाले स्वप्न—चिन्ता का अभिप्राय है वेचैनी, और वेचैनी से सारा स्नायु-समुदाय तना रहता है । यह समझना कि कामुकता के गन्दे स्वप्नों से ही स्वप्न-दोष हो सकता है, भूल है । चिन्ता-ग्रस्त रहने से प्रायः स्वप्न-दोष हो जाता है और इस का स्वास्थ्य पर अत्यन्त बुरा असर होता है, क्योंकि चिन्ता से एक तरफ़ स्नायु-मण्डल का ह्रास होता है और वीर्य-नाश से दूसरी तरफ़ जीविनी-शक्ति का ह्रास होता है । डा० मौल का कथन है:—‘चिन्ता से तो स्वप्न-दोष होता ही है, परन्तु कई बार स्वप्न में भी कोई चिन्ता-जनक स्वप्न आने लगे तो उस से भी स्वप्न-दोष की आशंका हो जाती है । कई बार ऐसा स्वप्न आने लगता है कि डाकू या हिंस पशु पीछा कर रहे हैं, और जब भय का भाव चारों तरफ़ से आक्रान्त कर लेता है तो स्वप्न-दोष हो जाता है । कई बार स्वप्न में गाड़ी पकड़ने लगते हैं, और स्टेशन पर पहुँचते ही गाड़ी छूट जाती है, इस से भी स्वप्न-दोष हो जाता है ।’ अभिप्राय यह है कि किसी प्रकार के भी स्नायु-मण्डल के तनाव से स्वप्न-दोष हो सकता है । बहुत खाने से, न खाने से ; बहुत थक जाने से, बिल्कुल हाय-पैर न हिलाने से ; काम से, क्रोध से, लोभ से, मोह से, भय से, चिन्ता से—इन सब की अति से स्नायु-समुदाय तन जाता है और उस का परिणाम स्वप्न-दोष हो जाता है !

इस प्रकार के मानसिक कारणों से स्वप्न-दोष का शरीर पर अत्यन्त धातक परिणाम होता है । डाक्टर कुट लिखते हैं:—

“पुरुषों तथा स्त्रियों, दोनों को, स्वमं-दोष होता है और दोनों को ही इस से अत्यन्त हानि पहुँचती है। यद्यपि स्त्री का स्वमं-दोष में वीर्य जैसा कोई तत्व स्वित नहीं होता तथापि उस की स्नायु-शक्ति का भारी ह्रास होता है। कामुकता का स्वभ एक प्रकार का अनजाने हस्त-मैथुन ही है। कहा जाता है कि कोई व्यायाम इतना यकाने वाला नहीं जितना शून्य में हाय चलाना या शून्य में पाँव मारना। सीढ़ियों के नीचे उतरते हुए यदि मालूम न हो कि एक डण्डा और नीचे उतरना है तो पाँव नीचे ले जाते ही शरीर को कितना धक्का पहुँचता है—यदि पहले ही मालूम होता कि नीचे डण्डा नहीं है तो पाँव उस के लिये तथ्यार होकर नीचे जाता और ज़रा-सा भी धक्का न लगता। शरीर के लिये जैसे यह धक्का है, स्नायु-मण्डल के लिये वैसे ही कामुकता का स्वभ है। शरीर के अंग-अंग में से स्नायु-शक्ति एकत्र होकर बड़े वेग से एक ऐसे व्यक्ति के आर्लिंगन में लगती है जिस की सत्ता ही नहीं! वह शक्ति स्वमं-दोष के रूप में निकल जाती है, परन्तु उस की प्रतीकारक शक्ति दूसरे व्यक्तिकी तरफ से नहीं मिलती, क्योंकि उस की सत्ता तो काल्पनिक ही है। स्नायु-शक्ति का यह ह्रास, और स्नायु-शक्ति को यह धक्का ऐसा भयंकर होता है जो यदि कई बार दोहराया जाता रहे तो मनुष्य को सर्वथा शक्ति-हीन बना दे, स्मृति-शक्ति का सर्वनाश कर दे और मानसिक-शक्ति को कमज़ोर करना दे।”

यदि जागते हुए काम-भाव के विचारों को मन में स्थान दिया जायगा तो सोते समय वे अवश्य मन को धेरे रहेंगे । वल्यना के सम्पर्क से उन की धातक शक्ति भी बहुत बढ़ जायगी क्योंकि वह तो विचार रूपी कुण्ठित-कुठार पर धार लगा देती है । जागते हुए मुख से निकला हुआ एक भी अश्लील शब्द स्वभावस्था में अनेक अपवित्र स्मृतियों को जगा सकता है । इसलिये जागृतावस्था में ही अधिक साक्षात् रहने की ज़रूरत है । जो लोग जागते समय मन को गढ़ों में नहीं गिरने देते वे सोते समय भी बचे रहते हैं । गन्दे उपन्यास पढ़ने से, पतित साथियों के साथ मिलने-जुलने से, खाली रहने से, मन को स्वभावस्था के लिये काफ़ी गन्दा मसाला मिल जाता है । ऐसे मसाले को पाकर फिर मन उसे छोड़ना भी नहीं चाहता । जो कामुकता के स्वर्मों से बचना चाहे वह यदि दिन के समय अपनी विचार-शृंखला पर ध्यान देता रहे, तुरे विचारों को मन में न आने दे, तो रात को स्वर्यं बचा रहेगा । परन्तु विचारों को कामुकता की तरफ से बचा लेना ही पर्याप्त नहीं है—विचारों का सशक्त होना उस से भी ज्यादह आवश्यक है । कई लोग, जो काम-स्वर्मों से भयभीत रहते हैं, घबरा उटते हैं, वे जितना बचने की कोशिश करते हैं उतना ही इस के शिकार ढोते जाते हैं । इस का कारण मुख्यतः उन का भय ही होता है । भय विचार-शक्ति को सशक्त होने के स्थान पर, अशक्त बना देता है । विचार-शक्ति को दुर्बल कभी न होने देना चाहिये । स्वप्न-दोप होना तुरा है, परन्तु उन्हें देख कर घबराएँ

उठना और भी बुरा है । घबराने से उन की संख्या घटने के स्थान पर बढ़ती है । ऐसे व्यक्तियों को मोलिनोस के निम्न शब्द जिन्हें विलियम जेम्स महोड़य ने 'वैराइटीज़ ऑफ़ रिलिजियन्स एक्सपीरियन्स' में उद्धृत किया है, सदा स्मरण रखने चाहियें—

“यदि तुझ से कोई अपराध हो जाय, चाहे वह कैसा ही क्यों न हो, तो उसे सोच-सोच कर दुःखी मत हुआ कर । अपराध तो मनुष्य से हुआ ही करते हैं । क्योंकि तू एक-दो वार गिर गया है इस का यह अभिप्राय नहीं कि तू सदा गिरता ही चला जायगा, ईश्वर की तरफ से सदा दुक्कारा ही जायगा । ऐ असृत-पुत्र ! आँखें खोल, और अपनी गिरावट के विचारों पर पर्दी डाल कर ईश्वर की दया पर भरोसा रख । क्या वह वेवकूफ़ न होगा जो किसी सान्मुख्य में तेज़ दौड़ता हुआ यदि बीच में गिर फेंतो वैठ कर अपने गिरने पर ही अश्रु-धारा वहाने लगे ? बुद्धिमान् लोग उसे यही कहेंगे, ऐ खिलाड़ी ! समय मत खो, उठ,—उठ कर फिर भागना शुरू कर, क्योंकि जो गिर कर उठ खड़ा होता और फिर फौरन भागने लगता है वह तो ऐसा है मानो कभी गिरा ही न हो ! तू एक बार क्या, हज़ारों बार भी क्यों न गिर जाय, घबरा कभी मत ; जो औषध तुझे दी है इसे गाँठ बाँधें रख, ईश्वर पर भरोसा कर । इस शख्स से तू कई अखाड़े मार लेगा और दिल की कमज़ोरी पर विजय प्राप्त करेगा ।”

अपनी कमज़ोरियों को ही सदा मत सोचते रहो । संकल्प को ढ़ंड तथा सशक्त बनाओ । बुरी परिस्थितियों से बचो । सोने

से पहले अच्छे भजन गाओ, वेद-भन्न पढ़ो, उत्तम पुस्तकों का पाठ करो ; देखोगे कि दुरे स्वप्नों की जगह अच्छे स्वप्न आने लगते हैं। स्वप्नों की समस्या से निकलने का इस से उत्तम दूसरा उपाय क्या हो सकता है। इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व में डॉ. कोवन की निष्ठा-लिखित सलाह के उद्धृत करने के प्रलोभन का संवरण नहीं कर सकता। वे लिखते हैं :—

“प्रत्येक व्यक्ति जिसने अपनी इच्छा-शक्ति का सर्वथा संहार नहीं कर दिया कम-से-कम जागृतावस्था में अपने विचारों को अच्छी प्रकार वश में कर सकता है, उन्हें पवित्र रख सकता है। यदि वह गिरता है, पाप करता है, तो जानतं-वृक्षतं ! जिस प्रकार वह जागते हुए अपने विचारों को पवित्र रख सकता है उसी प्रकार भी रख मिला कठिन नहीं है। साथ-ही प्रत्येक का कर्तव्य है कि सोनं-जागते सदा विचारों को पवित्र रखें। लोग कहते हैं कि वे स्वप्नों को वश में नहीं कर सकते। यह बात भ्रम-मूलक है। मनुष्य के मन में जागते हुए जो विचार आते हैं उन का स्वप्नों से श्रत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। जागती हालत में जिन्हें ‘विचार’ कहते हैं, सोती हालत में उन्हीं को ‘स्वप्न’ कहते हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि यदि मनुष्य ने जागृतावस्था में अपने विचारों को अश्वीलता तथा अपवित्रता की तरफ जाने दिया है तो रात को भी मन वैसे ही विचारों से भर जाता है—स्वप्नावस्था के विचार तो जागृतावस्था के विचारों के फल हैं—और इसीलिये यदि दिन का समय गन्दे विचारों में

बीता हो, कामोदीपन हो चुका हो तो रात को स्वप्न-दोष हो ही जाता है। यदि जागते हुए हम ने कुवासनाओं को द्वाने के लिये इच्छाशक्ति का कोई उपयोग नहीं किया तो हम कैसे आशा कर सकते हैं कि सोते समय जब पैशाचिक-भाव आ देरेंगे तब हृदय से 'नकार' निकल पड़ेगी? इच्छाशक्ति सोते समय हमें गिरने से उतना ही बचा सकती है जितना वह हमें जागते समय बचा चुकी है—उस से झाड़ह नहीं। एक उच्च-स्थिति का इटलियन जिसे स्वप्न-दोष से बहुत परेशानी हो चुकी थी लिखता है कि जब और कोई चारा न रहा तो अन्त में उस ने दृढ़ संकल्प कर लिया कि आगे से जब भी कोई अपवित्र विचार उस के मन में प्रविष्ट होने लगेगा, वह जाग जायगा। इस आदत का उस ने दिन को खूब अभ्यास किया। जब कभी कोई अश्लील विचार उस के मन में आने लगता, वह एकदम चौंक उठता। सोने से पूर्व वह यही विचार कई बार दोहरा कर सोता, सारी संकल्प-शक्ति इसी विचार में लगा देता। इस का बड़ा उत्तम परिणाम निकला। 'बुरा विचार एक बड़ा भारी ख़तरा है'—यह भावना उस के हृदय में इतना धर कर गई कि सोते समय भी वह उस की चेतना का अंग बनी रहती और मन के ज़ुरा-सा इधर-उधर भकटे ही वह उठ बैठता। इस अभ्यास से उसे बहुत लाभ पहुँचा और स्वप्न-दोष से वह सर्वथा बच गया।<sup>11</sup>

# एक्षादृशा शुद्धियांश्च

‘ब्रह्मचर्यः—

[ वीर्य क्या है ? — उस की महत्ता ! ]

आचार्य उपनिषदमानो ब्रह्मचारिण कृष्णने गर्भमन्तः ।  
तं राष्ट्रोस्तिष्ठ उद्दरे चिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देखाः ॥  
आश्वर्य वेद..

**मनुष्य** के शरीर का तत्त्व-भाग वीर्य है । वीर्य का स्तम्भन कठिन कार्य है । इस की रक्षा की चिन्ता योगियों की उन्निद्र आँखों में, अपियों के चेहरों की झुरियों में और ब्रह्मचारियों की नियन्त्रित दिन-चर्या में किसे नहीं दीख पड़ती ? मूर्ख लोग भले-ही जीवन-शक्ति के रहस्य को न समझते हुए उलटे मार्ग पर चले परन्तु समझदार लोग वीर्य-रक्षा को जीवन का लक्ष्य-विन्दु जानते हैं । इस हिमाद्रि-सम-कठिन दुख्लह कार्य में तत्त्वज्ञानियों के चिन्तित रहने का मुख्य कारण यह है कि शरीर के सार अंश को अन्दर-ही-अन्दर खपा लेने से विद्या और बल की सतत वृद्धि होती है, वीर्य-नाश से मनुष्य का चौमुखा ह्रास होता है । वीर्य-रक्षा बड़े महत्व का कार्य है ।

वीर्य-रक्षा के महत्व को समझने के लिये—‘वीर्य क्या वस्तु है’—इस बात को समझ लेना आवश्यक है । हम यहाँ :

पर भारतीय-आयुर्वेद, तथा पाश्चात्य-आयुर्विज्ञान, दोनों के वीर्य-विषयक मुख्य-मुख्य विचारों का उल्लेख करेंगे ताकि हमारे पाठक इस विषय को भली प्रकार समझ सकें।

## १. भारतीय-आयुर्वेद

‘अष्टांग-हृदय’, शारीर स्थान, अध्याय ३, श्लोक ६ में लिखा है:—

“रसाद्रकं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्मि च अस्थनो  
मज्जा ततः शुक्रः……”।”

भोजन किये हुए पदार्थ से पहले रस बनता है। रस से रक्त, रक्त से माँस, माँस से मेद, मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा, मज्जा से वीर्य; —वीर्य अन्तिम धातु है। मैशीन में इस के बनने का दर्जा सातवाँ है। इस के बनाने में, शरीर को, जीवन के लिये आवश्यक अन्य सब पदार्थों की अपेक्षा अधिक मेहनत करनी पड़ती है। रस की अपेक्षा रक्त में तत्व-भाग अधिक है। उत्तरोत्तर सार-भाग बढ़ता ही जाता है। शरीर की भौतिक शक्तियों का अन्तिम सार वीर्य है। थोड़े-से वीर्य को बनाने के लिये रक्त की पर्याप्त मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। किंचिन्मात्र वीर्य का नष्ट हो जाना अत्यधिक रुधिर के नष्ट हो जाने के बराबर है। आयुर्वेद के इस सिद्धान्त को अनेक पाश्चात्य-परिषदों ने भी मुक्त-करण से स्वीकार किया है। डा० कोवन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ‘दि सायन्स ऑफ एं न्यू लाइक’ के १०६ पृष्ठ पर लिखा है:—

“शरीर के किसी भाग में से यदि ४० औंस रुधिर निकाल लिया जाय तो वह एक औंस वीर्य के बराबर होता है—अर्थात् ४० औंस रुधिर से एक औंस वीर्य बनता है।”

अमेरिका के प्रसिद्ध शरीर-वृद्धि-शास्त्रज्ञ, मैकफेडन महोदय ने अपनी पुस्तक ‘मैनहुड एण्ड मेरेज’ में इसी विचार को प्रकट किया है। ‘एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ फ़िज़िकल कल्चर’ के २७७२ पृष्ठ पर वे लिखते हैं:—

“कई विद्वानों के कथनानुसार ४० औंस रुधिर से १ औंस वीर्य बनता है परन्तु कुछ एक विद्वानों का कथन है कि १ औंस वीर्य की शक्ति ६० औंस रुधिर के बराबर है।”

सम्भवतः इस क्रिय में पूरा-पूरा हिसाब न हो सकता हो, तथापि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि योड़े-से भी वीर्य को उत्पन्न करने के लिये रक्त की बहुत अधिक मात्रा चुर्चा होती है। भारतवर्ष में तो यह चर्चा सर्व-साधारण तक में पाई जाती है। यहाँ हर-कोई जानता है कि वीर्य के बनने में उस से ४०,५० या ६० गुना रुधिर काम में आ जाता है। पाश्चात्य लोगों में यह विचार हाल-ही में उत्पन्न हुआ है। मूलतः, यह भारतीय आयुर्वेद का विचार है। जब रुधिर में शरीर को जीवित या मृत बना देने की शक्ति है तब वीर्य में—जो रुधिर का सार-भाग है—वह शक्ति अप्रत्याख्यात रूप से कई गुनी होनी ही चाहिये।

आयुर्वेद का कथन है कि रुधिर से वीर्य की अवस्था तक पहुँचने में उपर्युक्त सात मंजिलें तय करनी पड़ती हैं। इन का

पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ; अन्त में रक्त से वीर्य किस प्रकार बन जाता है—इस विषय पर आयुर्वेद की दृष्टि से अभी तक पूरा-पूरा अनुसन्धान नहीं हुआ । आयुर्वेद से हमें इतना अवश्य पता चलता है कि रुधिर को वीर्य बनाने के लिये बड़े लम्बे-बड़े सात फेरों वाले रास्ते में से गुज़रना पड़ता है । रक्त का सार-भाग बनते-बनते अन्त में वीर्य बनता है ।

आयुर्वेद के अनुसार वीर्य का स्थान सम्पूर्ण शरीर है । हृदय में विकार उपस्थित होने पर वीर्य शरीर में से मथा जाकर अरण्डकोशों द्वारा प्रकट रूप में उत्पन्न हो जाता है । इसी विषय को स्पष्ट करते हुए ‘भाव-प्रकाश’-कार लिखते हैं :—

“यथा पयसि सर्पिस्तु गृदशचेक्षौ यथा रसः ।

एवं हि सकले काये शुक्रं तिष्ठति देहिनाम् ॥ २४० ॥

कृत्स्नादेहस्थितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा ।

खीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तसंप्रवर्तते ॥ २४२ ॥”

अर्थात्, जिस प्रकार दूध को मथने से धी निकल आता है उसी प्रकार बहु-वीर्य वाले देह को भी मथने से वीर्य निकल आता है ; जिस प्रकार ईख को पेरने से रस निकलता है उसी प्रकार अत्यन्त वीर्य वाले पुरुष के शरीर में से भी, अत्यन्त मथन करने से, वीर्य प्राप्त होता है । सम्पूर्ण शरीर में रहने वाला वीर्य मानसिक प्रसन्नता तथा सम्भोग के समय प्रवृत्त होता है । इस प्रकार भारतीय-आयुर्वेद के अनुसार वीर्य का स्थान सम्पूर्ण शरीर है, केवल अरण्ड-कोश नहीं ।

## २. पाश्चात्य-आयुर्विज्ञान

पाश्चात्य-आयुर्विज्ञान के परिडत वीर्य को सात धातुओं का सार नहीं मानते। उन के कथनानुसार वीर्य सीधा रक्त से उत्पन्न होता है—उसे सात मंजिलों में से गुज़रने की आवश्यकता नहीं होती। वे लोग वीर्य को सम्पूर्ण-शरीरस्य नहीं मानते। उन का कथन है कि मनोविकार उपस्थित होने पर अण्ड-कोश अपनी क्रिया द्वारा एक द्रव उत्पन्न करते हैं। यही द्रव 'उत्पादक-वीर्य' है। जिस प्रकार उत्तेजक पदार्थ के सन्मुख आने पर आँखों से श्रांसु तथा मुख से लार टपकती है उसी प्रकार अण्ड-कोशों की ग्रन्तियाँ (ग्लैंड्स) में से वीर्य निकलता है।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, अण्ड-कोशों में से दो प्रकार का रस उत्पन्न होता है। एक भीतरी, दूसरा बाहरी। भीतरी को 'इन्टरनल सिक्रीशन'—अन्तःस्राव—तथा बाहरी को 'एक्सटरनल सिक्रीशन'—ब्रह्मःस्राव—कहते हैं। अन्तःस्राव हर समय अण्ड-कोशों से होता रहता है और शरीर में अन्दर-ही-अन्दर खपता रहता है। यह रस सम्पूर्ण देह में व्याप्त होकर आँखों को तेज, मुख को कान्ति तथा अंग-प्रत्यंग को सुडौलपन देता है। चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था में बालक के शरीर में जो अन्तानक परिवर्तन देख पड़ते हैं उन का कारण अन्तःस्राव का भीतर-ही-भीतर खप जाना है। जिन प्राणियों के अण्ड-कोश निकाल दिये जाते हैं वे क्रिया-शून्य तथा स्फूर्ति-हीन हो जाते हैं। योड़े,

वैल तथा वकरों को देख कर यह बात आमानी से समझ में आ जाती है। मनुष्यों में भी जिन कं अण्ड-कोश निकाल दिये जायँ वे निस्तेज तथा निर्वीर्य हो जाते हैं। उन का होंजड़ों का-सा हाल हो जाता है। वे किसी प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक काम के नहीं रहते।

बहिःसूत्र के विषय में पाश्चात्यों का यह कथन है कि इस में शुक्र-कीटाणुओं के साथ-साथ जनन-प्रदेश के अन्य अनेक स्थानों से उत्पन्न हुए द्रव भी मिल जाते हैं। शुक्र-कीटाणु (स्पैरोटोजोआ) तथा उन द्रवों के मेल का नाम ही वीर्य (सीमन) है। शुक्र-कीटाणुओं की उत्पत्ति अण्ड-कोशों से होती है और वे ही संतानोत्पत्ति के कारण हैं। जिस पुरुष के वीर्य में ये जीवाणु नहीं होते वह न पुँसक कहलाता है। शराव, तम्बाकू, चाय, काफ़ी, अफ़ीम आदि पदार्थों के सेवन से ये कीटाणु क्रिया-हीन हो जाते हैं अतः उत्पादन-शक्ति को स्थिर रखने के लिये इन का त्याग ही सर्वोत्तम उपाय है। शरीर से बाहर न निकलने पर शुक्र-कीटाणु शरीर में खप जाते हैं या नहीं, इस विषय में विद्वानों में सम्मति-भेद है, परन्तु डा० कौवन तथा अन्य अनेक परिदृष्टों का मत है कि यदि इन जीवाणुओं को कुविचारों तथा कुकर्मों द्वारा शरीर से बाहर न फेंक दिया जाय तो वही जीवाणु जो नये जीवन को उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखते हैं शरीर में खप कर व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक बल को अद्भुत रूप से बढ़ा सकते हैं। डा० गार्डनर महोदय का कथन है कि—“वीर्य-

कीटाणु रुधिर का सार-तम भाग है। प्रकृति ने इसे जीवन-दातृ-शक्ति ही नहीं दी परन्तु इस में वैश्यक्तिक जीवन को समृद्ध करने का जादू भी भर दिया है। इस में तनिक भी सन्देह नहीं कि शुक्र-कीटाणु के शरीर में खप जाने से सम्पूर्ण देह में सजीवनी-शक्ति का सञ्चार हो जाता है।”

मनुष्य के शरीर की रचना को जानने वाले सभी विद्वान् एकमत होकर मानते हैं कि भीतरी अथवा बाहरी किसी भी वीर्य-शक्ति का हास मनुष्य की वृद्धि के लिए अत्यन्त हानिकर है। शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति के लिए आत्म-संयम द्वारा वीर्य-स्तम्भन अत्यन्त आवश्यक है।

### तुलना

वीर्य के सम्बन्ध में पूर्वीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की सम्मतियों का उल्लेख करते हुए उन की तुलना पर विचार करना बड़ा रोचक विषय है। सामान्य-दृष्टि से विचार करने पर दोनों में निम्न-लिखित मोटे-मोटे भेद प्रतीत होते हैं:—

### भेद

१. आयुर्वेद में वीर्य सात धातुओं के कम से तथा पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के अग्रसार सीधा रक्त से बनता है।
२. आयुर्वेद वीर्य को सम्पूर्ण शरीरस्य मानता है; पाश्चात्य लोग इसे अण्ड-कोशों द्वारा उत्पन्न हुआ मानते हैं।

३. पाश्चात्य आयुर्विज्ञान में वीर्य के दो रूप, अन्तःस्त्राव (इन्टरनल सिक्कीशन) तथा बहिःस्त्राव (एक्सट्रनल सिक्कीशन) रूपष्ट रूप से माने गये हैं; आयुर्वेद में यह भेद नहीं दीख पड़ता।

४. पाश्चात्य-विज्ञान में शुक्र-कीटाणु, (स्पैमेटोजोआ) की वरिभाषा पाई जाती है। शुक्र-कीटाणु 'उत्पादक-वीर्य' का नाम है। आयुर्वेद में उत्पादक-वीर्य को 'कीटाणु-विशेष' नहीं माना गया। उन के मत में शुक्र ही से जीवन की उत्पत्ति होती है।

साधारण बुद्धि द्वारा पूर्वीय तथा पाश्चात्य विचारों में वीर्य के सम्बन्ध में यही चार मोटे-मोटे भेद दीख पड़ते हैं। हमारी सम्मति में सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करने पर इन भेदों का बहुत सा अंश लुप्त होकर दोनों विचारों में अनेक समानताएँ दृष्टि-गोचर होने लगती हैं।

### समानताएँ

१. निससन्देह आयुर्वेद वीर्य को सात धातुओं में से गुजर कर बना हुआ मानता है परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि आयुर्वेद के कई ग्रन्थों में वीर्य के सात धातुओं में से गुजर कर बनने के सिद्धान्त को नहीं भी माना गया। वे यही मानते हैं कि 'केदार-कुल्या-न्याय' से रुधिर ही शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को भिन्न-भिन्न रस देता जाता है। जैसे बगीचे में पानी सब जगह बहता है और उस में से भिन्न-भिन्न वृक्ष भिन्न-भिन्न रस खींच लेते हैं उसी प्रकार रुधिर भी अंग-प्रत्यंग को सींचता हुआ सम्पूर्ण शरीर

को पुष्ट करता है। जब रुधिर अण्ड-कोशों में पहुँचता है तब वे रुधिर में से वीर्य खींच लेते हैं। यह विचार अक्षरशः पाश्चात्य-आयुर्विज्ञान के विचार के साथ मिलता है परन्तु निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि यही विचार ठीक है।

२. आयुर्वेद वीर्य को सम्पूर्ण शरीरस्थ मानता है; पाश्चात्य-विज्ञान इसे अण्ड-कोशों द्वारा जनित मानता है। कईयों के कथनानुसार, वीर्योत्पत्ति में यह स्थान-सम्बन्धी भेद है। परन्तु यह भेद वास्तविक भेद नहीं। पाश्चात्य परिणाम यह नहीं मानते कि वीर्य अण्ड-कोशों में रहता है, वे यही मानते हैं कि वीर्य के उत्पत्ति-स्थान अण्ड-कोश हैं। मनोमन्यन के बाद वीर्य अण्ड-कोशों में प्रकट होता है, यह बात दोनों पक्षों को सम्मत है। वीर्य का स्वप्न दोनों के मर्तों में सम्पूर्ण शरीर में से होता है। आयुर्वेद के मुख्य-सिद्धान्त के अनुसार सात धातुओं के क्रम से बना हुआ वीर्य सरता है, पाश्चात्य-आयुर्विज्ञान के अनुसार वह सीधा रुधिर में से सरता है—सरता या निकलता दोनों मर्तों में सम्पूर्ण शरीर में से है।

३. यद्यपि भारतीय आयुर्वेद में अन्तःस्राव तथा वृहिःस्राव का भाव स्पष्ट रूप से नहीं पाया जाता तथापि जहाँ तक हम ने विचार किया है उस के आधार पर हमारी सम्मति है कि आयुर्वेद में 'तेज' तथा 'ओज' शब्दों का प्रयोग अन्तःस्राव (इन्टरनल सिक्कीशन) और 'रेतसू' तथा 'बीज' शब्दों का प्रयोग वृहिःस्राव (एक्सटरनल सिक्कीशन) के लिए किया गया है। 'शुक्र'

तथा 'वीर्य' शब्द भीतरी तथा बाहरी, दोनों स्रोतों के लिये प्रयुक्त हो जाते हैं। वाग्मट्ट ने 'ओज' का निम्न वर्णन किया है:—

"ओजश्च तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम् ।  
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिवन्धनम् ॥  
यस्य प्रवृद्धौ देहस्य तुष्टिपुष्टिफलोदयाः ।  
यज्ञाद्वा नियतो नाशो यस्मिंस्त्वष्टुति जीवनम् ॥.  
निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः ।  
उत्साह प्रतिभा धैर्य लावण्य सुकुमारताः ॥"

अर्थात्, ओज सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, देह की स्थिति का कारण है। ओज के बढ़ने से तुष्टि, पुष्टि तथा बल का उदय होता है, ओज के नष्ट हो जाने से यह सब कुछ नष्ट हो जाता है। ओज ही से उत्साह, धैर्य, लावण्य और सुकुमारता आदि नाना-विधि भाव प्रकट होते हैं।

यह वर्णन अन्तःस्राव के विषय में लिखे गये पाश्चात्य आयुर्विज्ञानों के वर्णनों से बिल्कुल मिलता है। मैकफैडन महोदय 'इन्टरनल सिक्रीशन'—अन्तःस्राव—के विषय में लिखते हैं:—

"इन ग्रन्थियों से निकली हुई एक-एक वृँद उत्पन्न होते ही शरीर में खप जाती है। इस का परिणाम अनवरत उत्साह-वृद्धि तथा स्वास्थ्य है जो वचपन में विशेष रूप से दीख पड़ता है।"

जैसा ऊपर दर्शाया गया है 'अन्तःस्राव' के विषय में वाग्मट्ट तथा मैकफैडन के वर्णनों में कोई भेद नहीं। 'बहिःस्राव' पर पूर्वीय तथा पाश्चात्य आयुर्विज्ञान की सम्पत्तियों में कुछ भेद अवश्य

है परन्तु वहिःस्नाव की सत्ता को आयुर्वेद में स्वीकार अवश्य किया गया है। भाव प्रकाश में लिखा है:-

“शुकं सौम्यं सितं स्निरधं वलपुष्टिकरं स्मृतम्।

गर्भवीजं वपुः सागो जीवस्याश्रय उत्तमः । २३७ ॥”

अर्थात्, वीर्य सोमात्मक, श्वेत, त्रिघ्र, बल और पुष्टि-कारक, गर्भ का वीज, देह का सार-रूप और जीव का उत्तम आश्रय-रूप है। वीर्य का यह वर्णन किसी भी पाश्चात्य लेखक के ‘वहिःस्नाव’ के वर्णन से अक्षररूपः मिलता है।

४. हाँ, ‘वहिःस्नाव’ के स्वरूप के विषय में दोनों विज्ञानों में अत्यन्त सम्मति-भेद है। आयुर्वेद में वहिःस्नाव के लिए शुक्र-कीटाणु (स्पर्मटोनोआ) का शब्द नहीं पाया जाता, पाश्चात्य-विज्ञान में पाया जाता है; आयुर्वेद में ‘शुक्र’, एताव-न्मात्र शब्द का प्रयोग होता है।

अण्ड-कोशों के ‘वहिःस्नाव’ के विषय में दो कल्पनाएँ हैं। आयुर्वेद के क्यनानुसार शुक्र ही वहिःस्नाव है; पाश्चात्य आयु-विज्ञानों के अनुसार शुक्र-कीटाणु वहिःस्नाव है। स्मरण रखना चाहिए कि आयुर्वेद ने शुक्र को वहिःस्नाव कहते हुए शुक्र-कीटाणु से इनकार नहीं किया। उस ‘शुक्र’ का नाम यदि ‘शुक्र-कीटाणु’ रखा जा सके तो आयुर्वेद को कोई आपत्ति नहीं।

परन्तु क्या वहिःस्नाव (शुक्र) का नाम शुक्र-कीटाणु रखा जा सकता है? क्या यह पदार्थ जो हिलता-जुलता, गति करता मालूम पड़ता है उस में कोई पृथक्-चेतनता है, उस में

मनुष्य के आत्मा से भिन्न आत्मा है, या वह प्राणी की भौतिक चेतनता का ही रूपान्तर है ?

हमारी सम्पति में उत्पादक-वीर्य को कीटाणु-विशेष कहना अनुचित है। क्योंकि उत्पादक-वीर्य में गति होती है, वह चलता फिरता है, अतः उसे पाश्चात्य आयुर्विज्ञों ने 'स्पैटोजोआ' या चेतना-विशिष्ट-जीवाणु का नाम दे दिया है—वास्तव में वह शुक्र ही है। भारतीय आयुर्वेद के साथ अध्यात्म-शास्त्र भी मिला हुआ है। यदि शुक्र को शुक्र-कीटाणु का नाम दे दिया जाय तो उस में मनुष्य से पृथक् चेतनता मानने का भाव फ़लकरे लगेगा। यह बात भारतीय अध्यात्म-शास्त्र स्वीकार नहीं करता। अतः आयुर्वेद में शुक्र को शुक्र-कीटाणु का नाम नहीं दिया गया और ना ही यह नाम देना किसी प्रकार उचित प्रतीत होता है। उन्हें 'कीटाणु' या 'जीवाणु' का नाम क्यों दिया जाय ? उन की गति का कारण उन की पृथक्-चेतनता नहीं है। शुक्र-कीटाणुओं की गति, अथवा चेतनता, मनुष्य के मस्तिष्क की गति अथवा चेतनता से उत्पन्न होती है अतः उन्हें यथार्थ में 'शुक्र' नाम ही देना चाहिये, 'कीटाणु' या 'जीवाणु' नहीं। हाँ, केवल व्यवहार के लिए—क्योंकि उन में गति दिखलाई देती है इसलिए—यदि उन्हें 'कीटाणु' कह दिया जाय तो इस में हमें कोई आपत्ति नहीं ! हमें आपत्ति तभी हो सकती है जब प्रत्येक कीटाणु में आत्मा माना जाय, और क्योंकि एक वीर्य-स्राव में ही सैकड़ों कीटाणु होते हैं, अतः प्रत्येक 'स्पैटोजोआ' में आत्मा माना जाय !

### ३. तीसरा विचार

हम ने अभी कहा कि 'उत्पादक-वीर्य' की गति का कारण मस्तिष्क है, 'उत्पादक-वीर्य' की 'पृथंक-चेतनता' नहीं। यह कथन हमें वीर्य के स्वरूप के सम्बन्ध में तीसरे विचार की तरफ ले आता है। आयुर्वेद तथा पाश्चात्य-आयुर्विज्ञान के अतिरिक्त वीर्य के स्वरूप के विषय में एक तीसरा विचार भी है जिस का उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है।

ई विचारकों का कथन है कि 'उत्पादक-वीर्य' ( स्पैमेटो-ज़ोश्रा ) की उत्पत्ति रुधिर अथवा अरण्ड-कोशों से नहीं बल्कि सीधे मस्तिष्क से होती है। उनका कथन है:— “वीर्य का नाश मस्तिष्क का नाश है क्योंकि वीर्य तथा मस्तिष्क दोनों एक ही पदार्थ हैं।” इस में सन्देह नहीं कि वीर्य तथा मस्तिष्क को बनाने वाले रसायनिक पदार्थ एक ही हैं। दोनों की तुलना करने पर उन में बहुत ही थोड़ा अन्तर प्रतीत हुआ है। इस विषय पर अभी गहरे अन्वेषण की आवश्यकता है। यदि रसायन-शास्त्र से सिद्ध हो जाय कि 'उत्पादक-वीर्य' तथा 'मस्तिष्क' की रचना में कोई भेद नहीं तो ब्रह्मचर्य के लिए एक अकाट्य युक्ति तैयार हो जाय। हम यहाँ पर डाक्टरों तथा रसायन-शास्त्र के विद्यार्थियों को संकेत करना चाहते हैं कि यदि वे इस विषय पर अधिक मनन कर कुछ क्रियात्मक विचारों तक पहुँच सकें तो बहुत लाभ हो।

इस सिद्धान्त के सब से प्रवल पोपक अमेरिका के प्रसिद्ध डा० एन्ड्रू जैक्सन डेविस थे। वे अपनी पुस्तक 'ऐनर्सन्स टु एवर-स्किरिंग क्लेशन्स फ्रॉम दि पीपल' के २६३ पृष्ठ पर लिखते हैं:—

“कई शारीर-शास्त्रियों ने यह भ्रम-मूलक विचार फैला दिया है कि वीर्य की उत्पत्ति रुधिर से होती है। इस सिद्धान्त से बुद्धिमान् व्यभिचारी लोग खूब फ़ायदा उठाते हैं। वे कहते हैं कि यतः रुधिर से ही वीर्य बन कर अरण्ड-कोशों द्वारा प्रकट होता है अतः वे वीर्य का दुरुपयोग करते हुए भी खा-पी कर उस की कमी को पूरा कर सकते हैं। वे लोग कुछ नहीं जानते। वास्तव में सचाई यह है कि 'उत्पादक-वीर्य', 'वीर्य-कीटाणु' अथवा 'स्पैमेटोज़ोआ' की उत्पत्ति मस्तिष्क से होती है और अन्य द्रवों के साथ मिल कर वह अरण्ड-कोशों में वहिःसाव के रूप में प्रकट होता है।

“उत्पत्ति का कार्य जीवन के सब कार्यों की अपेक्षा अधिक बड़ा और यकाने वाला कार्य है। इस में मनुष्य की प्रत्येक शक्ति, प्रत्येक भाव तथा शरीर और मन का हरेक हिस्सा भाग लेता है। मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ प्रत्येक 'शुक्र-कीटाणु' यदि बाहर निकलता है तो मस्तिष्क के उत्तरे अंश का पूरा नाश समझना चाहिये।

“शारीरिक परिश्रम, मानसिक कार्य तथा किसी एक काम की तरफ़ लगातार लगे रहने से 'वीर्य-कीटाणु' अथवा 'स्पैमेटोज़ोआ' मस्तिष्क में ही खप जाता है। यदि 'वीर्य-कीटाणु'

को केवल उत्पत्ति के लिए काम में लाया जाय तो मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ नष्ट होने से बच जाती हैं।

“इसलिए स्मरण रखना चाहिये कि उत्पादक पदार्थों का उचित मात्रा से अधिक खुर्च करना अथवा प्रष्टति के नियमों का उल्लंघन करना मस्तिष्क पर अत्याचार करना है। ऐसा करने से दिमाग् की सब तरह की बीमारियों के होने का पूरा निश्चय है। जिन लोगों पर बच्चों की रक्षा की ज़िम्मेवारी है उन्हें इन बातों को कभी न भूलना चाहिये।”

मस्तिष्क तथा वीर्य में कोई खास सम्बन्ध अवश्य है। वीर्य-नाश का दिमाग् पर सीधा असर होता है, यह किसी से छिपा नहीं। डा० कोवन यह मानते हैं कि दिमाग् से एक द्रव उत्पन्न होकर उस तरफ़ को, जिस तरफ़ मनुष्य के मनोभाव केन्द्रित होते हैं, वहने लगता है। डाक्टर हॉल का कथन है कि अरण्ड-कोशों से एक पदार्थ उत्पन्न होकर मस्तिष्क में पहुँचता है, जहाँ से वह यौवनावस्था में प्रकट होने वाले सब शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तनों को प्रादूर्भूत करता है। डाक्टर ब्लौश कहते हैं कि मस्तिष्क तथा वीर्य का पारस्परिक सम्बन्ध देर से माना जा रहा है। यहाँ तक कि शैलिंग की ‘नैचुरल फिलॉसफी’ में मस्तिष्क के लिए—‘अरण्ड-कोशों के रस से बना हुआ दिमाग्’ —यह नाम पाया जाता है।

‘वीर्य के स्वरूप’ के सम्बन्ध में हम ने तीनों मुख्य विचारों का उल्लेख इसलिए कर दिया है ताकि प्रत्येक व्यक्ति इस बात

को भली प्रकार समझे लें कि वीर्य-रक्षा किये विना उस का कोई निस्तार नहीं। तीनों विचार तत्वतः एक ही हैं। किसी भी दृष्टि से क्यों न देखा जाय, वीर्य-रक्षा करना जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक—अत्यन्त आवश्यक—प्रतीत होता है। हमारे नव-युवक पाठ्यात्म्य विचारों के पढ़े के पीछे अपनी कमज़ोरियों को छिपाने का प्रयत्न करते हैं, जान-बूझ कर अपने को धोखे में डॉलते हैं, परन्तु उन्हें अपने आत्मा की आवाज़ सुन कर अवश्यम्भावी नाश से बचने की फ़िक्र करनी चाहिये। पश्चिमीय विज्ञान ने अभी तक जो कुछ पता लगाया है वह ब्रह्मचर्य के हक्क में ही जाता है। उस का दुरुपयोग करने की कोशिश न कर, उस से शिक्षा लेनी चाहिये। डॉक्टर स्टाल ने अपनी पुस्तक “वर्ट ऐ यॅग हस्टैण्ड औट टु नो” में जीवन-शाखे की दृष्टि से बहुत ही उत्तम लिखा है:—

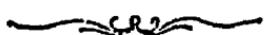
“जो लोग वृक्षों की रक्षा करना जानते हैं उन्हें यह भी मालूम है कि वृक्षों के सौन्दर्य को कायम रखने के लिए आवश्यक है कि उन के फलोत्पादन के समय को जितना हो सके उतना पीछे हटाने का प्रयत्न किया जाय। जब तक हम उन के बीज न बनने देंगे तब तक वे हरे-भरे, लहलहाते और फूलों से लदे रहेंगे। पुष्प के बीज बनने की सम्भावना को दूर कर दो, तुम देखोगे कि वह फूल पहले की अपेक्षा कई धूरटे अधिक देर तक खिला रहता है। कीड़ों का भी यही हाल है। देखा गया है कि जब उन के वीर्य नष्ट होने की सम्भावना को रोक दिया

जाय तब वे अपनी जाति के दूसरे कीड़ों की अपेक्षा बहुत अधिक जीती हैं। एक तितली पर परीक्षण कर के देखा गया कि जहाँ जनन-शक्ति का उपयोग करने वाली तितलियाँ कुछ ही दिनों की मेहमान थीं वहाँ वह तितली दो साल से भी ऊपर जीती रही।”

ऐसे परीक्षणों से वीर्य-रक्षा का जीवन के लिए महत्व अखंकिंडत रूप से सिद्ध है—इस मैं क्षण-भर के लिए भी सन्देह नहीं करना चाहिये।

## हृषीकेश आध्यात्मिक

‘त्रैत्यन्वयं’



[ वीर्य-रक्षा ही जीवन है, वीर्य-नाश ही मृत्यु है ! ]

शरीर की प्रारम्भिक अवस्था में संचय-शक्ति प्रधान रहती है।

हम खाते-पीते और मौज उड़ाते हैं। किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करते। शरीर बढ़ता चला जाता है। कहाँ बचपन का एक हाथ नन्हा-सा पुतला और कहाँ छः फ़ीट लम्बा, डेढ़ मन का बोझ ! परन्तु इस वृद्धि में वही आँखें, नाक, कान, अंग, प्रत्यंग तथा आत्मा विद्यमान हैं। वही छोटी चीज़ बड़ी हो गई है, वही हल्की वस्तु भारी हो गई है। इस आश्वर्य-जनक परिवर्तन का कारण शरीर की संचय-शक्ति है। हम ने वै परिश्रम से उपादेय पदार्थों का शरीर में संग्रह किया है, इसी से आज देह उन्नत तथा प्रवृद्ध दिखाई देता है।

परन्तु यह उन्नति चिर-स्थायिनी नहीं। दिन चढ़ कर ढलता है, लहर उठ कर गिरती है। शरीर भी हृषी-कृषी होने लगता है। ‘संचय’ के अनन्तर ‘विचय’ प्रारम्भ होता है। जीवन के बाद मृत्यु पदार्पण करने लगती है। हम दैनिक-ज्यवहार में देखते हैं कि मनुष्य की समृद्ध होती हुई शक्तियाँ किसी समय आकर ठहर जाती हैं, रुक जाती हैं, कई बार पतनोन्मुख

होने लगती हैं। मनुष्य जैसे-का-तैसा-नहीं बना रहता। यह ऊँच-नीच क्यों?—यह परिवर्तन क्यों?

जिन्होंने संचय के पश्चात् विचय, अथवा उन्नति के बाद नाश के अवश्यम्भावी चक्र पर विचार किया है उन का कथन है कि इस का कारण, जीवन की प्रौढ़ावस्था के अनन्तर, दो परस्पर विरुद्ध प्रवृत्तियों का टक्कर खाना है। शरीर-वृद्धि की स्वार्थमयी प्रवृत्ति प्रजा-जनन की परमार्थ-प्रवृत्ति से दब जाती है। मनुष्य घर बना कर बैठ जाता है। अपने शरीर में संचय करना छोड़ कर सन्तानोत्पत्ति करना प्रारम्भ करता है। प्रकृति खेल करती हुई उसे अपनी उँगलियों पर नचाती है। जो व्यक्ति खाने, पीने और अपने शरीर के विषय में सोचने से आराम नहीं लेता था वही परमार्थ के चक्र में घूमने लगता है। अपनी सन्तान के लिये कठिन-से-कठिन कष्ट भोगने के लिये तथ्यार हो जाता है। स्वभाव-सिद्ध क्रम से, स्वार्थ की अवस्था के पीछे स्वार्थ-स्थाग की अवस्था आ जाती है।

मनुष्य की 'शक्तियों का हास' तथा 'प्रजा-जनन' दोनों एक ही समय में प्रारम्भ होते हैं। प्रजोत्पत्ति के पश्चात् अधिक शारीरिक उन्नति की सम्भावना नहीं रहती। जिस तत्व से शारीरिक उन्नति हो सकती थी वह प्रजोत्पत्ति में काम आ जाता है, फिर शारीरिक उन्नति क्यों न रुक जाय? प्रजा उत्पन्न करना बुरा कार्य नहीं। ऊँचे अर्थों में सन्तान उत्पन्न करना ब्रह्म का अनुकरण करना है। परन्तु इतने से क्या प्रजोत्पत्ति के

अंवश्यम्भावी परिणाम रुक संकरते हैं?—नहीं, कभी नहीं। प्रजोत्पत्ति के प्रारम्भ होते ही शारीरिक शक्तियों का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। संचय की शक्तियों को विचय की शक्तियाँ आं धेरती हैं। मनुष्य का कृदम मृत्यु की तरफ बढ़ने लगता है, क्योंकि संजीवनी-शक्ति के बीज का शरीर से बाहर जाना जीवन का प्रतिद्वन्द्वी है। जब शरीर में वृद्धि अधिक नहीं समां संकरती तब उत्पत्ति प्रारम्भ करने से किंसी हानि की सम्भावना नहीं, परन्तु इस से पूर्व उत्पत्ति का कार्य प्रारम्भ करने पर मनुष्य किंसी प्रकार भी नाश से नहीं बच सकता। प्रजा-जनन, शरीर-वृद्धि के चरम-सीमा तक पहुँच जाने का स्वाभाविक परिणाम होता, चाहिये—इसी का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। जब भी शरीर-वृद्धि के संमय में प्रजोत्पत्ति की जाती है तभी ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लंघन होता है। 'शरीर-वृद्धि' अथवा 'संचय' की अवस्था में वीर्य का हस्त-मैथुन, व्यभिचार अथवा बाल-विवाह आदि किंसी रूप में भी नाश करना 'मृत्यु' का आहान करता है, क्योंकि ब्रह्मचर्य ही जीवन है, अब्रह्मचर्य ही मृत्यु है।

उत्पत्ति के साथ नाश का अविनाभाव सम्बन्ध है। प्रजोत्पत्ति में वीर्य का क्षय होता है। वीर्य के क्षय का बदला चुकाने के लिए प्रत्येक प्राण-धारी को मृत्यु की गठड़ी सिर पर उठानी पड़ती है। जीवन-शास्त्र पर जिन्होंने लिखा है उन की पुस्तकों से कई ऐसे दृष्टान्त संगृहीत किये जा सकते हैं जिन से उत्पत्ति तथा नाश का सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होने लगे। पाठकों को वीर्य-रक्ता

के महत्व को दर्शाने के लिए हम यहाँ ऐसे-ही कुछ वृष्टान्तों का संग्रह करेंगे ।

हेबलाक एलिस महोदय अपनी पुस्तक 'एरोटिक सिम्बो-लिज़म' के १६८ पृ० पर इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं:—

“वीर्य-नाश में बंडना-तन्तुओं का जो तनाव होता और उस से शरीर को जो धक्का पहुँचता है वह इतना भयंकर होता है कि उस से सम्बोग के बाद अनुभव होने वाले दुष्परिणामों का होना सर्वथा स्वाभाविक है । पशुओं में यही देखने में आया है । प्रयम सम्बोग के बाद बड़े-बड़े तथ्यार वैल और घोड़े वेहोश हो कर गिर पड़ते हैं, सूत्र संज्ञा-हीन हो जाते हैं, नोडियाँ गिर कर मर जाती हैं । मनुष्यों में मौत तो देखी ही गई है परन्तु उस के साथ ही सम्बोग के बाद की यकान से अनेक उपद्रव भी उत्पन्न हो जाते हैं । कभी-कभी कई दुर्घटनाएँ होती देखी गई हैं । नव-युवकों में प्रयम सम्बोग से वेहोशी तथा कृय आदि होती हैं, कई बार मिरगी हो जाती है, अंग ढीले पड़ जाते हैं, तिल्ली फट जाती है । रुधिर के द्रवाव को न सह सकने के कारण कड़ीयों के दिमाग् की नाड़ियाँ खुल जाती हैं, अर्धांग हो जाता है । धृद्ध पुरुषों के वेश्याओं के साथ अनुचित संबन्ध का परिणाम अनेक बार मृत्यु देखा गया है । अनेक पुरुष नव-विवाहिता वधुओं के आलिंगन के आवेग को नहीं सह सके और उसी अवस्था में प्राण-विहीन हो गये ।”

शहद की मक्खियाँ प्रथमालिंगन के सम-काल ही जीवन से हाथ धो बैठती हैं। तितलियों का श्वास सम्भोग के साथ ही समाप्त हो जाता है। कीड़ियों की भी यही कहानी है। मछलियाँ सन्तानोत्पत्ति के अनन्तर अत्यन्त जीण हो जाती हैं। मृत्यु उन से दूर नहीं रहती। कीड़ों, पतंगों में, प्रजोत्पत्ति तथा मृत्यु, दोनों, ऐसे मिले-जुले हैं कि एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। चूहे, गिलहरी, खरगोश प्रजोत्पत्ति के बाद कई बार मर जाते हैं, कई बार वेहोश होकर एक ओर को गिर पड़ते हैं। पक्षियों में सम्भोग का परिणाम सर्वत्र तात्कालिक मृत्यु नहीं पाया जाता परन्तु इस के दुष्परिणाम उन में भी किसी-न-किसी रूप में बने ही रहते हैं। जीवन की लहर के आवेग में उन के जो मधुर गीत निकलते थे वे अब सूख जाते हैं, चित्रकार को चक्रित कर देने वाले पौखों के रंग उड़ जाते हैं, नाचना भूल जाता है, कदम ढीला हो जाता है। ज्यों-ज्यों जीवन उन्नति की तरफ चलता जाता है त्यों-त्यों उत्पत्ति के साथ जुड़ी हुई मृत्यु भी अपने भयंकर स्वरूप को सौम्य बनाने का प्रयत्न करती है; परन्तु कितना भी क्यों न हो, उस की भयंकरता का रुद्र-रूप शिथिल होता हुआ भी दुष्परिणामों में वैसे-का-वैसा ही बना रहता है। जीवन के प्रत्येक ज्ञेत्र में उत्पत्ति की थकान का प्रथम शिकार, नाटक का सूत्रधार, 'नर' ही होता है। मरना हो तो वही पहले मरता है, वेहोश होना हो तो वही पहले होता है। वही इस उपाख्यान का प्रधान पात्र है, उसी ने रंगीलेपन में फाग उड़ाया है, उसी

से किस्ता भी ख़तम होता है। 'मादा' का जीवन भी संकट में पड़ता है परन्तु 'नर' की अपेक्षा बहुत कम। ज्ञुद्र-प्राणियों में प्रजोत्पत्ति की ज्वाला भयंकर रूप धारण कर 'नर' को तत्काल भस्म कर देती तथा 'मादा' को स्वल्प-काल में ही भस्मावशेष कर देती है। मनुष्य में इस ज्वाला की शिखा धीमे-धीमे जलती है। कभी ज्वाला चमक उठती, और कभी ढब जाती है। इस ज्वाला की गर्मी से मनुष्य की अनेक प्रसुप्त शक्तियों का क्रमिक विकास होता है, परन्तु इस की शिखाओं को भयंकर रूप देने वाले को स्मरण रखना चाहिये कि यदि इस आग ने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया तो उसी को, स्वयं बलि बन कर, अग्नि-देव की रुधिर-पिपासा को शान्त करना होगा।

जेझीज़ और थौमसन ने 'दि एवोल्यूशन ऑफ सेक्स' में जो विचार प्रकट किये हैं उन का इस प्रकरण में उल्लेख करना अत्यन्त शिक्षा-प्रद सिद्ध होगा। अपनी पुस्तक के २५५ पृ० पर वे लिखते हैं:—

“मृत्यु तथा उत्पत्ति का सम्बन्ध बहुत स्पष्ट है, परन्तु साधारण बोल-चाल में इस सम्बन्ध को शुद्ध रूप में नहीं कहा जाता। लोग कहते हैं कि सब प्राणियों को मरना अवश्य है अतः उन्हें सन्तानोत्पत्ति ज़खर करनी चाहिये। ऐसा न करने से प्राणियों का सर्वथा लोप हो जायगा। परन्तु यह बात अशुद्ध है। पीछे क्या होगा या क्या न होगा, यह सोचने वाले संसार में थोड़े हैं। यथार्थ बात जो प्राणियों के जीवन के इतिहास से सम्बन्ध

पड़ती है यह नहीं है कि—‘वे प्रजोत्पत्ति इसलिए करते हैं क्योंकि उन्हें मरना है’—परन्तु यह है कि—‘वे मरते इसलिए हैं क्योंकि वे प्रजोत्पत्ति करते हैं’। गेटे का कथन सत्य है कि ‘मृत्यु से बचने के लिए हम प्रजोत्पत्ति नहीं करते परन्तु क्योंकि हम प्रजोत्पत्ति करते हैं इसलिए उस के अवश्यम्भावी परिणाम, मृत्यु, से नहीं बच सकते।’

“विज्ञैन तथा गेटे, दोनों ने भिन्न-भिन्न उद्देशों से ऐसे कीटों तथा पतंगों के जीवनों को दर्शाया है जो ‘वीर्य-कीटाणु’ के उत्पन्न करने के कुछ घटनों के बाद मर जाते हैं। ‘नर’ में विचय-शक्ति अधिक है अतः उस के जलदी सृतम होने की सम्भावना है। नर-मकड़ी सम्बोग के बाद मर जाती है। उस का मरना अन्य प्राणियों के मरने पर प्रकाश डालता है।.....उच्च प्राणियों में उत्पत्ति के लिए किये जाने वाले त्याग के साथ मिला हुआ नाश का अंश कम अवश्य हो जाता है परन्तु फिर भी प्रेम का बदला चुकाने के लिए मृत्यु का भूत विलकुल पीछा नहीं छोड़ता। प्रेम के प्रभात का अन्त प्रायः मृत्यु की धोर-निशा में होता है।”

उपर्युक्त उद्धरण में एक कथन बड़े महत्व का है। जिस्तु तथा यौमसन की सम्मति है कि प्राणि-जगत् में उत्पत्ति इसलिए प्रारम्भ नहीं होती क्योंकि उन की मृत्यु अवश्य होनी है, परन्तु उन की मृत्यु इसलिये होती है क्योंकि वे उत्पत्ति प्रारम्भ कर देते हैं। मृत्यु सन्तानोत्पत्ति का अवश्यम्भावी परिणाम है। निस्स-

न्देह यह एक स्थापना है, परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि इस स्थापना के करने वाले साधारण व्यक्ति नहीं हैं। यह स्थापना ऐसे व्यक्तियों ने की है जिन का विज्ञान पर झुग्ण है, जिन्होंने जीवन-भास्त्र के प्रश्न पर ध्यापना बहुत समय बिताया है। अनुभव इस स्थापना की पुष्टि करता है। उत्पत्ति के साथ बिनाश के इस नियम-सम्बन्ध को ही तो देख कर भूषि-मुनियों ने ब्रह्मचर्य पर इतना ध्ल दिया था, ब्रह्मचर्य के आदर्श को उत्तरोत्तर बढ़ाया था। वसु, रुद्र तथा आदित्य ब्रह्मचारियों में वसु को निष्ठ ब्रह्मचारी उत्तराया था। कितना ऊँचा लक्ष्य है! चौबीस साल तक ब्रह्मचर्य रखना पर्याप्त नहीं समझा गया। प्राचीन ऋषियों ने ब्रह्मचर्य के प्रश्न को विवाद अथवा व्याख्यान देने तक सीमित नहीं रखा था। ब्रह्मचर्य का प्रश्न उन के लिए जीवन-भरण का प्रश्न था। इस पर उन्होंने ऐसे ही विचार किया था जैसे आजकल के विद्वान् किसी 'सायन्स' के विषय पर करते हैं। संयम तथा ब्रह्मचर्य को लक्ष्य में रख कर उन्होंने ने नियन्त्रित पाठशालाएँ चलाई थीं जिन का नाम 'गुरुकुल' था। गुरुकुलों में आजकल के स्कूलों और कालिजों की तरह किताबें रखा कर विद्यार्थियों को पैसा पैदा कर सकने की भैशीन बना देना उद्देश्य न होता था। आचार की मर्यादा तक पहुँचना वहाँ का ध्येय रखा गया था। जिस प्रकार आजकल किताबें पढ़ना स्कूलों का अन्तिम उद्देश्य समझा जाता है ठीक इसी प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन कराना, संयम-पूर्वक जीवन बिता सकने की शिक्षा देना,

गुरुकुलों का चरम लक्ष्य था । प्राचीन-काल में यह कार्य, आज-कल के शब्दों में एक 'सायन्स' का महत्व रखता था, इस के लिए बड़े-बड़े मस्तिष्क दिन-रात लगे रहते थे । अपियाँ ने जीवन के महत्व-पूर्ण प्रश्न का एक हल निकाला था—वह या 'ब्रह्मचर्य' । उन के गुरुबड़े सरल थे, परन्तु ब्रह्मचर्य के भावों से पुर थे । वे कहते थे—'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपादत'—ब्रह्मचर्य के तप से देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त किया; 'ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यं लाभः'—ब्रह्मचर्य के स्थिर रखने से शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक बल प्राप्त होता है; 'मरणं विन्दुपातेन जीवनं, विन्दुधारणात्'—विन्दु-पात में जीवन का नाश तथा विन्दु-रक्षण में जीवन की रक्षा है । कैसे द्वोट-द्वोट संस्कृत के सुन्दर टुकड़े हैं परन्तु इन्हीं में जीवन की विकट समस्याओं के कैसे जीवन-शास्त्र तथा शारीर-शास्त्र के महत्व-पूर्ण हल भरे हुए हैं ।

## ब्रह्मोद्दश आध्यात्म

‘ब्रह्म चर्य’

---

[ ब्रह्मचर्य के नियम और ऋषियों की वुद्धिमत्ता ]

**ब्रह्म-**पियों ने ब्रह्मचर्य के प्रश्न पर पूरा-पूरा विचार कर लिया था । सदाचार का जीवन किस प्रकार व्यतीत किया जा सकता है इस की उन्होंने पूरी-पूरी खोज की थी और उसी के आधार पर ब्रह्मचर्य के नियमों को घड़ा था । इस प्रकरण में हम ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लेख करते हुए यह भी दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि ऋषियों-मुनियों ने ब्रह्मचर्य के लिए जिन नियमों का प्रतिपादन किया है, यद्यपि वे साधारण-दृष्टि से मामूली-से जान पड़ते हैं तथापि उनमें गहन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त कार्य कर रहे हैं । उन की आज्ञाएँ वर्तमान परीक्षणों, वैज्ञानिक गवेषणाओं तथा सार्वभौम अनुभवों से भी पूर्णतया सिद्ध होती हैं ।

निम्न-लिखित श्लोकों में ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त संक्षिप्त-रूप से समाविष्ट हैं:—

“स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यमापणम् ॥

संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥

एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।

विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाप्तलक्षणम् ॥”

इन्हीं अष्टांग मैथुनों का निषेध, उपनयन-संस्कार के समय 'मैथुनं वर्जय' उपदेश द्वारा किया जाता है—'हे बालक ! यौवन काल में से गुज़रतं हुए आठ प्रकार के मैथुनों से बचना । ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, आलिंगन, एकान्त-वास और समागम में से किसी एक का भी शिकार मत बनना, वीर्य-रक्षा करना । जो मनुष्य इन का शिकार हो जाता है वह किसी भी अदृश्या में ब्रह्मचारी नहीं रह सकता ।'

आत्म-संयम तथा वीर्य-रक्षा के लिए ये गिजाएँ ब्रह्मचारी को गुरुकुल में प्रविष्ट होते ही दी जाती थीं । इन गिजाओं का, संक्षेप में यही अभिप्राय है कि ज्ञान की साधन पाँचों इन्द्रियों को मार्ग से विच्छुत न होने देना चाहिए । उन का सदा सदुपयोग करना चाहिए । उन्हें भटकने न देना चाहिए । ब्रह्मचर्य के उपदेश में एक-एक इन्द्रिय को वश करने पर विशेष बल दिया गया है । सन्ध्या में प्रत्येक इन्द्रिय का नाम लेकर उसे सीधे मार्ग पर चलाने की प्रेरणा की गई है । प्रत्येक इन्द्रिय के दुरुपयोग से ब्रह्मचर्य-हानि की सम्भावना है, अतः ऋषियों ने एक-एक इन्द्रिय को लक्ष्य में रख कर ऐसी आज्ञाएँ प्रचलित की थीं जिन के पालन करने से उन सम्भावनाओं को सर्वथा रोक दिया जाय । उन की आज्ञाओं का आधार विलक्षुल वैज्ञानिक है । यही दर्शाने के लिए हम एक-एक इन्द्रियार्थ का वर्णन करते हुए पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों पर अर्वाचीन तथा प्राचीन विचारों की दृष्टि से कुछ लिखेंगे ।

## १. रूप

मनुष्य के मनोविकारों को जागृत करने में आँखों का हिस्सा बहुत बड़ा है, इसलिए संयमी मनुष्य के लिए उन पर नियन्त्रण रखने की बहुत आवश्यकता है। आजकल का शहरों का जीवन बालक तथा बालिकाओं के सन्मुख अवधःपतन तथा नाश के द्रवाजे खोल देता है। वे जिवर आँखें उठाते हैं उधर ही उन्हें बलात्कार-पूर्वक खींच ले जाने वाले प्रलोभन उमड़ते हुए नज़र आते हैं। वे अपने को रोक नहीं सकते। प्रत्येक शहर, नाटक तथा सिनेमाओं से भरा हुआ है। नाच, गीत, रंग, रूप—सब मिल कर नव-युवक पर आक्रमण करते हैं—वेचारा सामर्थ्य न होने से द्रव जाता है। प्लेटो ने नाटकों के देखने के विषय में लिखा है कि उन के द्वारा मनुष्य पर कृत्रिम वस्तुओं का प्रभाव वास्तविक वस्तुओं की अपेक्षा अधिक होने लगता है। मनो-वैज्ञानिक विलियम जेम्स ने इसी प्रकरण में एक रशियन महिला का उल्लेख किया है जो नाटक के दृश्य में सर्दी से ठिरते हुए मनुष्य को देख कर आँसू बहाती रही परन्तु उस का घोड़ा तथा कोचवान नाटक-शाला के बाहर रूप के खून जमा देने वाले पाले में मरते रहे। नाच देखने का शौक, युरुप तथा भारत, दोनों नगह पर्याप्त मात्रा में है; परन्तु इस के भयंकर दुष्परिणामों की तरफ आँखें खोल कर नहीं देखा जाता। यह सुनाखों का अन्धा-पुन है। डा० कैलोग 'प्लेन फैक्ट्रस' के ३२१ पृष्ठ पर लिखते हैं:—

“आत्म-क्षय, रात्रि-जागरण, मध्य-रात्रि-भोजन, फैशनेवल और अनुचित ड्रेस का परिधान तथा शीत—इन दोषों के अतिरिक्त यह भी दिखाया जा सकता है कि नाचने से मनोभाव उत्तेजित हो जाते हैं और कुवासनाएँ जाग उठती हैं जिन के कारण मनुष्य कुकर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। ऐसे घृणित-कृत्य आचार-शास्त्र को धक्का पहुँचाने वाले तथा व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक उत्तमति के घातक हैं।” चन्द्रुरिन्द्रिय का यह दुरुपयोग प्राचीन ऋषियों से छिपा न था। इसीलिए उन्होंने ब्रह्मचर्य के नियमों का वर्णन करते हुए—‘नर्तनं गीतवादनम्’—इस प्रकार की आज्ञाओं में नाचने-गाने का सर्वथा निषेध कर दिया था।

ब्रह्मचर्य के नियमों में दर्पण देखने का भी निषेध है, इस का यही कारण है कि दर्पण के उपयोग से कई नव-युवक अनुचित मानसिक-भावों के शिकार बन जाते हैं। इन विषयों पर हेलिलौक एलिस ने बड़े परिश्रम से अनुसन्धान किये हैं। वे अपनी पुस्तक ‘सैन्युअल सिलेक्शन इन बैन’ के १८७ पृ० पर लिखते हैं:—

“आजकल वेश्या-घरों तथा अन्य फैशनों की जगहों पर सर्वत्र दर्पणों का प्रयोग बहुतायत से पाया जाता है। भोले-भाले बालक तथा बालिकाएँ अपने को दर्पण में देख कर अपने विषय में तरह-तरह की कल्पनाएँ करने लगते हैं और इस प्रकार दर्पण द्वारा पहले-पहल कुवासनाओं को सीख जाते हैं।”

क्या एलिस महोदय के कथन में किञ्चिन्मात्र भी सन्देह है? दर्पण का प्रयोग फैशन के लिए बढ़ता चला जा रहा है।

युक्त लोग शीशे में चेहरे की एक-एक रेखां को देखते हैं। उन के हृदय में तरह-तरह की भावनाएँ उठती हैं। उन सब के होते हुए व्रजनर्थ की रक्षा हो सकना असम्भव है।

पाँचों इन्द्रियों से गिरावट किस प्रकार होती है इस पर विचार करते हुए शायद 'मौके' पर कुछ लिख देना प्रकरणान्तर न होगा, क्योंकि 'मौका' पाकर ही 'रूप' आदि मनुष्य पर धावा बोल देते हैं। 'मौका' मनुष्य की गिरावट का शायद सब से बड़ा साधन है। बालकों को गिरने के लिये मौका मिल जाता है, चालिकाओं को गिरावट के लिये अवसर प्राप्त हो जाता है, वडी उम्र के पुरुष तथा छियों को भी गिरने के लिये अवसर दूँढ़ने की कठिनता नहीं होती। 'मौका' ऐसी चीज़ है जिस के मिलते ही मनुष्य का धर्म-कर्म कूच कर जाता है। संसार को उपदेश देने वाला महात्मा आत्म-हत्या का महा-पातक कर बैठता है।

बच्चों को खुला छोड़ देना भयंकर पाप है। यदि उन की प्रत्येक गति पर प्रेम-भय नियन्त्रण की आँख न रखती जाय तो उन का धृणित-तम पातकों को सीख जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। हमें माता-पिता की मूर्खता पर हँसी आती है जब वे अपनी संतान की पवित्रता के गीत गाते सुन पड़ते हैं। वे समझते हैं कि उन के बच्चे गलियों में निकम्मे फिरते हुए भी आचार में किसी तरह गिर नहीं सकते। कितनी भारी भूल है। बच्चों को जब तक काम में नहीं लगाये रखता जायगा, तब तक उन के

सदाचारी बने रहने की आशा रखना निराशा को निमन्त्रण देना होगा । काम में लगे हुए वचों को गाली-गलौज सीखने का 'भौका' ही नहीं मिलता, वे अधःपतन के पाठ को सीख ही नहीं सकते । इसीलिये ऋषियों ने वेदारम्भ-संस्कार के उपदेश में सत्र से प्रथम उपदेश—'कर्म कुरु'—रखा था । 'काम करो, खाली मत रहो, अपनी शक्तियों का प्रतिज्ञण संचय, सदुपयोग तथा सद्व्यय करते रहो ।' जिन बालकों को गिरने का मौका मिल जाता है, उन का नाश, दुःख तथा आश्र्य से, हमें, अपनी आँखों से, अपने सामने देखना पड़ता है । 'सैन्युअल लाइफ आर्फ़ दी चाइल्ड' के लेखक ने एक बालक के विषय में लिखा है:—

"मैं एक १४ वर्ष के बालक को जानता हूँ जो लगातार चर्च में जाता था और बड़ा मेहनती विद्यार्थी था । उसे अंग-भंग की बीमारी थी । उस की माता बालक को दिखाने के लिए मेरे पास ले आई । परीक्षा करने पर मैंने देखा कि बालक को सुजाक की बीमारी थी । जब मैंने बचे की माँ को सब-कुछ सच-सच कह दिया तब उस की माता सुझ से कुद्द हो उठी, क्योंकि वह अपनी सन्तान के विषय में ऐसी बात सुन ही नहीं सकती थी । अधिक अन्वेषण करने पर मातृम हुआ कि तेरह वर्ष की अवस्था से भी पहले से वह बालक वेश्याओं के भी पास आता-जाता था ।"

इस बालक का जो हाल था इस तरह का हाल न जाने कितने वचों का होगा परन्तु माता-पिता अपनी सन्तान के विषय

में यह सब-कुछ सुनने के लिए तथ्यार नहीं होते और जब तक बच्चे का सम्पूर्ण नाश उन की आँखों के सामने नहीं हो लेता तब तक निश्चिन्त हुए बैठे रहते हैं !

इसी 'मौके' की सम्भावना को दूर करने के लिए गुरुकुलों के नियमों के अनुसार लड़कों का, लड़कियों के गुरुकुलों में, तथा लड़कियों का, लड़कों के गुरुकुलों में आना निषिद्ध ठहराया गया था । दुरे मौकों से बचने के विचार को दृष्टि में रख कर ही प्राचीन काल में गुरुकुलों की स्थापना जंगलों में की जाती थी । मौका मिलने पर रूप, रस, शब्द, गन्ध, स्पर्श सभी द्वारा मनुष्य की गिरावट होती है इसलिए ब्रह्मचर्य-रक्षा का सब से बड़ा साधन ऐसे मौकों से बचना है । प्राचीन-शिक्षा-क्रम में तभी तो ब्रह्मचारी तथा आचार्य, दिन-रात, २४ घण्टे साथ-साथ जीवन व्यतीत करते थे ; गिरावट के 'मौके' से ही बालक को बचाये जाने का प्रयत्न किया जाता था ।

## २. शब्द

मनुष्य के अनुचित मानसिक आवेगों को रोकने के लिए शास्त्रों में नृत्य का निषेध किया गया है । नृत्य के साथ-साथ कान के व्यसन, गीत आदि में भस्त रहने की भी ब्रह्मचर्य के नियमों में भनाई है । गाने-बजाने का अधिकार ब्रह्मचारी को नहीं दिया गया । इस का कारण यही है कि गाना-बजाना ब्रह्मचर्य में हानिकर है । इस से मनोविकारों का उत्पन्न होना-

स्वाभाविक है। हेलिंग एलिस ने गाने तथा मानसिक विकारों की उत्पत्ति का सम्बन्ध बड़ी सफलता से अपनी पुस्तक 'संज्ञुश्ल सिलैक्शन इन मैन' में दर्शाया है। वे उस पुस्तक के १२३ पृष्ठ पर लिखते हैं:—

“इस में कोई सन्देह नहीं कि भिन्न-भिन्न प्राणियों में— विशेष रूप से कीड़ों, पतंगों तथा पक्षियों में—संगीत का उद्देश्य 'नर' का 'मादा' को अपनी तरफ लुभाना ही होता है। डार्विन महोदय ने इस दृष्टि से बहुत अन्वेषण किये और वे इसी सिद्धान्त पर पहुँचे। इस विषय पर हर्वर्ट स्पेन्सर तथा उन के अनुयायियों ने शंका उठाई है, परन्तु वर्तमान गवेषणाओं से यह ब्रात स्थिर रूप से सिद्ध हो चुकी है कि मधुर शब्दों तथा गीतों का परिणाम पक्षियों में नर और मादा का मिलना ही होता है। गीत तथा प्रेम के सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि प्राणि-जगत् में नर तथा मादा में से एक ही को मधुर-स्वर दिया गया है, दोनों को नहीं। इस का उद्देश्य मानसिक प्रसुप्त भावों को उद्भुद्ध करना नहीं, तो क्या है।”

जिस प्रकार पशुओं में गाने तथा प्रेम के भाव पूकट करने का भारी सम्बन्ध पाया जाता है उसी पूकार-मनुष्यों में भी यह नियम काम करता दिखाई देता है। एलिस महोदय पशु-पक्षियों में इस नियम को दर्शा कर मनुष्यों के विषय में लिखते हैं:—

“जब हम इस ब्रात पर विचार करते हैं कि पशु-पक्षियों में ही नहीं अपितु मनुष्यों में भी, यौवनावस्थाएँ, श्रीवा के इस भाग

की रचना में भारी परिवर्तन उत्पन्न होते हैं जिस का गाने में अधिक उपयोग होता है तब इस में तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि गाने का यौवन के मानसिक भावों के साथ बड़ा भारी सम्बन्ध है।

“इसी सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए, हेटो ने अपने काल्पनिक-राज्य में, किस प्रकार की गान-विद्या की आज्ञा देनी चाहिये, इस प्रश्न पर विचार किया है। यद्यपि हेटो ने यह नहीं कहा कि संगीत का सदा ही मनुष्य पर उत्तेजक पूर्भाव होता है तथापि वह विशेष पूर्कार के संगीत का मानसिक विकारों को उत्पन्न करने के साथ सम्बन्ध अवश्य मानता है। ऐसे संगीत से शराबीपन, औरतपन और निकम्मापन बढ़ता है; और हेटो की सम्मति में, पुरुषों का तो कहना ही क्या, द्वियों को भी ऐसा संगीत नहीं सिखाना चाहिये। हेटो दो ही पूर्कार के संगीत ‘सिखाने के हक्क में है: शुद्ध का अथवा पूर्णना का।’”

जब हम पशुओं, पक्षिओं तथा मनुष्यों में सर्वत्र संगीत का सम्बन्ध विषय की वासना को जगाने के साथ ऐसा प्रबल देखते हैं तब प्राचीन ऋषियों का ब्रह्मचारियों के लिए गाने-बजाने का निषेध करना ही उचित प्रतीत होता है। इस में कोई सन्देह नहीं कि गाने और गाने में भेद है। पूर्वेक गाना विषय-विकार को उत्पन्न करने वाला नहीं होता। इसलिए पूर्वेक पूर्कार का गाना भी ब्रह्मचारी के लिए रोका नहीं गया। सामवेद के गाने का तो ब्रह्मचारी के लिए विधान ही किया गया है। क्योंकि, अधिकाँश,

गीत का सम्बन्ध विषय-वासना के साथ है, इसीलिए व्रजवारियों के लिए गाने-बजाने का निषेध करना पूर्ण-नुद्विमत्ता का कार्य है, इस में किसी को सन्देह नहीं हो सकता ।

### ३. गन्ध

नासिका तथा जनन-शक्ति में व्यनिष्ट सम्बन्ध है । प्राचीन रोम के लोग इस सम्बन्ध से भली प्रकार परिचित थे ; वर्तमान काल में भी इन के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विद्यास पाया जाता है । यौवन-काल में लड़कों तथा लड़कियों को नक्सीर बहुत फूटने का कारण, नासिका तथा जननेन्द्रिय का सम्बन्ध ही है । इसी समय नासिका के दूसरे रोग भी उठ खड़े होते हैं । अनेक बार नक्सीर को, जनन-प्रदेश में वर्फ़ से ठण्डक पहुँचा कर, बन्द किया गया है । कमज़ोर पुरुषों तथा स्त्रियों में हस्त-मैथुन अथवा सम्बोग के बाद नक्सीर फूटती देखी गई है । कई बार वीर्य-क्षय के पीछे नासिका द्वार का अवरोध तथा छींक आना आदि देखा गया है । इस विषय पर कई लेखकों ने प्रकाश डाला है । एलिस महोदय एक स्त्री का उल्लेख करते हैं जिस में उपर्युक्त कथन पूरा-पूरा घटता था । फ़ीरी ने एक स्त्री के विषय में लिखा है जिसे विवाह के बाद नाक की बीमारियों की लगातार शिकायत रहने लगी थी । जे० एन० मैकेन्ज़ी ने अनेक दृष्टान्त देते हुए लिखा है कि नव-विवाहित पति-पत्नियों में जुक़ाम के बहुधा पाये जाने का मुख्य-कारण भी यही है ।

इस गिरावट के जमाने में परमात्मा की दी हुई प्रत्येक वस्तु का दुरुपयोग हो रहा है। बाजार तरह-तरह के गन्धों से भरा हुआ है। कस्तूरी का बहुत प्रयोग दिखाई देता है। पशुओं के शरीर से वने हुए गन्ध उत्तेजक होते हैं, अतः जंगली लोगों में उन का बहुत प्रचार था, परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्य होता जाता है त्यों-त्यों पशुओं के शरीर की गन्ध के स्थान में फूलों की गन्ध का उपयोग बढ़ता जा रहा है। फूलों से जो गन्ध बनते हैं वे भी मनुष्य की कुवासनाओं को उद्भुद्ध करते हैं, क्योंकि उन की रचना में वही पदार्थ होते हैं जो कस्तूरी आदि पशुओं के गन्ध में पाये जाते हैं। पशुओं से अथवा फूलों से, दोनों ही से, निकला हुआ गन्ध सर्वथा समान है और दोनों के दुष्परिणाम ब्रह्मचर्य के लिए भयंकर हैं।

एलिस महोड़ ने ‘जरनल ऑफ़ साइकोलौजिकल मैडिसिन’ में से उद्धरण दिया है, जिस का आशय यह है कि वनावटी फूलों के गन्धों का प्रयोग सदाचार के लिए अत्यन्त हानिकारक है और सदाचार का जीवन व्यतीत करने के लिए फूलों से बचना ही उत्तम है। इसी कारण प्राचीन काल में ब्रह्मचर्य के नियमों का उपदेश देते हुए आचार्य गन्ध-फूल-माला आदि उत्तेजक पदार्थों से बचने का आदेश करता था। आजकल के स्कूलों तथा कालिजों के विद्यार्थी गन्धों का अत्यधिक प्रयोग करते हैं। उन्हें समझना चाहिये कि यह ब्रह्मचर्य के नियमों के प्रतिकूल है, साथा जीवन तथा पवित्र जीवन ही आदर्श जीवन है।

## ४. स्पर्श

वेन महोदय अपनी पुस्तक 'इमोशन्स एंड विल' में लिखते हैं कि 'स्पर्श, प्रेम का आदि और अन्त है'। स्पर्श, मनोभावों को जागृत करने का सब से बड़ा साधन है—इस बात को भारत के अधिक, युरोप के फ़ीरी, मैन्टेगेज़ा, पैन्टा तथा एलिम सभी एक द्वर से स्वीकार करते हैं। स्पर्श का मनुष्य को उत्तेजित करने में इनना भारी असर है कि कई पश्चिमीय लेखकों की सम्मति में वर्तमान सम्यता की बढ़ती के साथ-साथ साधारण-से स्पर्श को भी तुरा समझा जाने लगेगा। निससन्देह सम्यता में ऐसे युग का आना सम्यता की गिरावट का ही सूचक होगा, परन्तु, यदि ऊँची दृष्टि से देखने पर मनुष्य उन्नति के स्थान में अवनति ही कर रहा हो, तब, ऐसे युग का आ पहुँचना आश्चर्य की बात भी न होगी।

डा० ब्लौच अपनी पुस्तक 'दि सैज़ुअल लाइफ़ ऑफ़ आवर टाइम' के ३० पृ० पर लिखते हैं:—

"स्पर्श से मानसिक विकार उत्पन्न हो जाने का मुख्य-कारण यह है कि त्वचा के संवेदना-तन्तुओं की रचना तथा उत्पादक-अंगों के तन्तुओं की रचना एक ही पदार्थ से हुई है, इसलिए प्राणिमात्र के सब अवयवों की अपेक्षा त्वचा का असर मानसिक दुर्भावों को जागृत करने में तत्काल होता है। जो व्यक्ति, स्पर्श की भयानक आँधी से बच जाता है वह इस के उन दुष्परिणामों से भी बच जाता है जो उसे अन्धा बना देने वाले होते हैं।"

बालक तथा वालिकाओं में प्रायः एक दूसरे को गुदगुदी करने की आदत देखी जाती है। गुदगुदी से त्वचा के उत्तेजन द्वारा मनोविकृति का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। बच्चों को इस आदत से बचाना चाहिए। अनावश्यक स्पर्श का कभी न होने देना ही ब्रह्मचर्य का नियम है।

कोमल विस्तरों का भी ब्रह्मचर्य पर बुरा असर होता है। बच्चों के विषय में डा० ब्लान्च ने बहुत अन्वेषण की है। उन का कथन है कि बच्चों को गदेश्वर विस्तरों पर सोने देने से उन के हस्त-मैथुनादि अनेक पैशाचिक दुर्व्यस्तों को सीखने की सम्भावना है। इसीलिए ब्रह्मचर्य के नियमों में—‘उपरि शय्यां वर्जय’—कोमल, गदेश्वर विस्तरों पर सोने का निषेध किया गया है।

एलिस महोदय अपनी पुस्तक ‘मौडेस्टी, सैक्युअल प्रिकौ-सिटी, ऑटो-इरॉनिज्म’ के १७५ पृ० पर लिखते हैं:—

“कई लेखकों ने लिखा है कि घोड़े की सवारी ब्रह्मचर्य के लिए ठीक नहीं है। घोड़े की सवारी से वीर्य स्वलित हो जाने का ज्ञान कैथोलिक पादशियों को भी था। पुरुषों तथा लियों में रेल गाड़ी की गति से भी दुष्प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, यह बहुतों का अनुभव है।”

शास्त्रों में, ब्रह्मचारी को उपदेश देता हुआ आचार्य कहता है—‘गवाश्वहस्त्युष्ट्यादि यानं वर्जय’—बैल, घोड़े, हाथी, ऊँट आदि की सवारी मत करो। कई जगह तो सवारी मात्र का निषेध किया गया है। ब्रह्मचारी को, जिस तरह से भी हो सके, ब्रह्मचर्य के

खण्डित होने से बचाया जाय, यही भाव प्राचीन गुरुओं के भक्तिष्ठक में काम करता रहता था। स्पर्श के विषय में लिखा हैः—

‘अकामतः स्वयमिन्द्रियस्पर्शेन वीर्यस्वलनं विहाय वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वेरताः सततं भव’—इन्द्रिय-स्पर्श कभी न करते हुए वीर्य-रक्षा करो।

इन उपदेशों को पढ़ कर प्राचीन गुरुओं और आधुनिक गुरुओं में भेद स्पष्ट दीख पड़ता है। क्या आजकल, गुरुकुलों के आचार्यों को छोड़ कर, किसी स्कूल अथवा कालिन का प्रिन्सिपल जनता के सन्मुख खड़े होकर अपने शिष्य को यह उपदेश देने का साहस कर सकता है कि, ‘ऐ बालक ! इस संस्था में वीर्य-रक्षा करना तेरे जीवन का लक्ष्य होगा !’—नहीं ! शिक्षा का इसे उद्देश्य नहीं समझा जाता। पढ़ा लिखा कर, रोटी कमाने लायक बना देने में स्कूल का काम ख़तम हो जाता है। प्राचीन गुरुकुलों का उद्देश्य ही पृथक् होता था। बालक को संथमी, सदाचारी बनाना उन का ध्येय था। पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं परन्तु आत्मिक उन्नति को सम्पूर्ण शिक्षा का लक्ष्य समझा जाता था। यह भेद प्राचीन तथा आधुनिक शिक्षकों के नामों में भी दीख पड़ता है। आधुनिक शिक्षक का नाम ‘हेड-मास्टर’ था ‘प्रिन्सिपल’ है। ‘हेड-मास्टर’ का अर्थ है—‘मालिक’। ‘प्रिन्सिपल’ का अर्थ है—‘मुखिया’। जिन्हें अपने रोब जमाने से छुट्टी न मिलती हो, जो ‘मालिकपन’ और ‘मुखियापन’ के विचारों के तीने दबे हुए हों, वे आचार की देख-रेख कर करेंगे !

प्राचीन शिक्षक के लिए शब्द ही 'आचार्य' का व्यवहृत होता था । शिक्षक, मुखिया (गुरु) अवश्य था, परन्तु वह 'आचार्य' भी था— सदाचार की शिक्षा देना उस का प्रधान-कर्तव्य था ।

#### ५. इस

इस में कई विषय मिले हुए हैं । गन्ध, स्पर्श तथा रूप का भी इस में समावेश है । गन्धादि विषयों का सेवन ब्रह्मचारी के लिए हानिकर है अतः रसीले पदार्थों का सेवन हानिकर स्वतः हो जाता है । शराब, चाय, काफ़ी, तम्बाकू तथा मिठाईयों का व्यसन सम्यता की उच्चति (?) के साथ उच्चत होता चला जा रहा है । लोग पेटू होते जा रहे हैं । इन सब का ब्रह्मचर्य पर बहुत बुरा असर होता है ।

शराब का जीवन के सार-तत्वों को बिगाड़ने में जो हाथ है उसे दर्शनि के लिए किसी डॉक्टर का प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं । शराबी का नशे में अपने को भूल कर सदाचार के क्षेत्र से कोसों दूर चला जाना रोज़ की घटना है । हम इस के विषय में कुछ न लिखना ही सब-कुछ लिख देने के बराबर समझते हैं । चाय तथा काफ़ी के भयंकर दुष्परिणामों से सर्वसाधारण परिचित नहीं हैं । हमें पूर्ण विश्वास है कि अनेक व्यक्ति चाय, काफ़ी के बुरे परिणामों से अपरिचित होने के कारण ही उन का इप्योग करते हैं । यथार्थ बात के ज्ञात होते ही वे इन्हें छोड़ने के लिए उद्धत हो जायँगे । डा० ब्लौच का कथन है:—

“चाय, काफ़ी तथा मौरफीन को अधिक मात्रा में लेने से मनुष्य नपुँसक हो जाता है। डूबूप्री ने परीक्षण कर के देखा है कि कई लोग जो दिन में ५-६ बार काफ़ी पीते थे नपुँसक हो गये। काफ़ी छोड़ देने से वं ठीक हो जाते और शुरू कर देने से फिर नपुँसक हो जाते थे।”

तम्बाकू के विषय में डा० कैल्लौग ‘प्लेन फैक्ट्रस’ में लिखते हैं:-

“मनुष्य के आचार पर तम्बाकू का क्या असर होता है इस बात को बहुत थोड़े लोग जानते हैं। बचपन में इस दुर्धर्षता के लग जाने से शीघ्र-ही कुवासनाएँ प्रदीप्त हो उठती हैं और कुछ ही वर्षों में सदाचारी तथा पवित्र युवक को काम-वासनाओं का ज्वालामुखी बना देती हैं। उस के अन्तःकरण की धबकती हुई कुवासनाओं की ज्वालाओं से अश्लीलता तथा दुराचार का काला धुआँ निकलने लगता है। देर तक तम्बाकू का प्रयोग करते रहने से नपुँसकता आ पहुँचती है।”

मिठाईयों का शौक कुप्रवृत्तियों का कारण और परिणाम दोनों ही है। डा० ब्लौच ‘सैज्जुअल लाइफ़ ऑफ़ आवर टाइम’ के ३४ पृ० पर लिखते हैं:-

“मिठाईयों के लिए शौक का कुप्रवृत्तियों के साथ सम्बन्ध है। जो बचे मिठाईयों के बहुत शौकीन होते हैं उन के गिरने की बहुत अधिक सम्भावना बनी रहती है और वे दूसरे बच्चों की अपेक्षा हस्त-मैथुनादि कुकर्मों की तरफ़ अधिक सुकते हैं।”

पेटूपन आजकल की नई वीमारी है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि वर्तमान युग में भूख से इतने लोग नहीं मरते जितने पेटूपन से मरते हैं। वीर्य-रक्षा न करने का अवश्यम्भावी परिणाम पेटूपन है। दुराचारी व्यक्ति का रसनेन्द्रिय पर वश नहीं रहता। पेट भेर रहने पर भी उस की भूख नहीं मिटती और वह सदा आवश्यकता से अधिक खा जाता है। उपवास से करना उस के लिए असम्भव-सा जान पड़ता है। डा० कैल्लौग लिखते हैं कि पेटूपन सदाचार का शब्द है। अधिक खा जाने से वीर्य-नाश होना निश्चित है, इसलिये जितनी भूख लगी हो उस से कुछ कम ही खाना चाहिये।

ब्रह्मचर्य के प्राचीन नियमों में इस सिद्धान्त को प्रधानता दी गई थी कि हमारा मन भोजन से बनता है। उपनिषद् में लिखा है—‘अन्नमयं हि सौम्य मनः’। सात्त्विकाहार के लिये जगह-जगह प्रेरणा की गई है। ब्रह्मचारी को गुरुकुल में प्रविष्ट करता हुआ आचार्य कहता है:—‘तेलाभ्यङ्गविर्द्धनात्यम्लाति-तिक्तकपायज्ञारेचनद्रव्याणि मा सेवस्त्र’—बहुत रुद्धे, तीखे, नमकीन पदार्थ मत खाना, राजसिक भोजन से कुसंस्कार जाग उठते हैं। बहुत बार भोजन करने का निषेध करते हुए प्रातः-सायं दो ही बार ब्रह्मचारी के लिए भोजन का विधान किया गया है। मनुस्मृति में ब्रह्मचर्य के प्रकरण में ब्रह्मचारी को नीरोग तथा स्वस्थ रहने के लिये किस प्रकार का भोजन करना चाहिये इस पर लिखा है:—

“सायं प्रातप्रद्विं जातीनामशनं समृतिनोदितम् ।

नान्तरे भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमोविधिः ॥

अनारोग्यप्रनाशुष्ममस्वर्गचातिभोजनम् ।

अपुरुणं लोकविद्विष्टं तस्माच्चत्यरिवर्जयेत् ॥”

वर्तमान गवेषकों के उक्त अनुभवों से स्पष्ट है कि ऋषियों ने ब्रह्मचर्य के लिये जिन नियमों का निर्माण किया था उन के आधार में बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त काम कर रहे थे !

## उत्तरसंघार

**ब्रह्मचर्य** का सन्देश एक महान सन्देश है—यह जीवन का, अमरता का सन्देश है। यह प्राचीन भारत का सन्देश है। हिमालय के गगन-भेदी शिखर से, गंगा और यमुना की अनवरत उठने वाली ध्वनि से, समुद्र की श्रयाह नीरवता से, कानों की दुर्भेद्य निर्जलता से तपस्यापय जीवन विताने वाले प्राचीन ऋषियों का सन्देश सुझे सुनाई दे रहा है,—और वह है, ‘ब्रह्मचर्य’ ! इस सन्देश को सुनने वाले आत्माओं की भागत-माता को ज़खरत है।

‘ब्रह्मचर्य’ एक चार अक्षरों का छोटा-सा शब्द है परन्तु इस में जो भाव आ जाते हैं उन का सौवाँ हिस्सा भी इन २५० श्लोकों में नहीं लिखा जा सका। वीर्य-रक्षा, ‘ब्रह्मचर्य’ का स्थूल रूप है ; ‘ब्रह्मचर्य’ वीर्य-रक्षा से बहुत-कुछ ज़्यादह है—बहुत-कुछ ज़्यादह ! ‘ब्रह्मचर्य’ एक व्यापक शब्द है। ‘ब्रह्मचर्य’ का अर्थ है—शक्तियों का संग्रह करना, उन्हें विखरने न देना, उन्हें अपनी उन्नति में लगाना। व्यक्ति को ही नहीं, समाज को भी ब्रह्मचर्य की ज़खरत है। हमारा समाज विखरा हुआ है, वह शक्ति-हीन हो चुका है—इस का यही अभिप्राय है कि समाज में ब्रह्मचर्य की शक्ति नहीं रही। व्यक्तियों को, समाजों को, देशों को, ब्रह्मचर्य की ज़खरत है—बड़ी भारी ज़खरत है, क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही शक्ति का संचय हो सकता है। इस-

समय जब कि चारों तरफ़ असमर्थता, शक्ति-हीनता तथा कथ के लक्षण दिखाई दे रहे हैं, जब कि जीवन की वत्ती बेग से जल रही है क्योंकि वह शीघ्र-ही बुझा चाहती है—इस समय उत्साह-हीन, जीवन-हीन, निराश समाज के लिये केवल एक सन्देश है—‘ब्रह्मचर्य’ ! ‘ब्रह्मचर्य’ !! ‘ब्रह्मचर्य’ !!!—‘चौमुखा-ब्रह्मचर्य’—केवल शरीर का नहीं, मन का, आत्मा का, समाज का, देश का,—सब का ‘ब्रह्मचर्य’ ।

नव-युवको ! इस सन्देश को कान खोल कर सुनो । इस विचार में पागल हो जाओ, तुम पागल होते हुए भी सही दिमाग़ वालों से कहीं अच्छे होगे । शक्ति को विखरने मत दो, नहीं तो पीछे से पछताओगे । इन पृष्ठों में ब्रह्मचर्य के केवल एक स्वरूप पर ही लिखा गया है, क्योंकि इस समय शायद इसी की सब से ज्यादह ज़खरत है । वीर्य-रक्षा करो; क्योंकि वीर्य-रक्षा करना ब्रह्मचर्य के जीवन के लिये पहला कदम है । खुद मत गिरो और दृढ़ संकल्प कर लो कि अपने आस-पास के किसी नौ-जवान को गिरने नहीं दोगे । हरेक नौ-जवान भारत-माता का लाल है; माता को उस की ज़खरत है; प्यारो ! नौ-जवान तो भारत-माता की सम्पत्ति हैं, उन्हें लुटने मत दो ।

मैं जानता हूँ; नव-युवक इस सन्देश के लिये तरस रहे हैं । मेरे पास नव-युवकों की जो चिट्ठियाँ आयी पड़ी हैं उन से मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि युवक इस सन्देश के लिये लालायित हैं । एक युवक हज़ारीबाग़ से अपनी चिट्ठी में लिखता

हैः— ‘मैंने आप की अंग्रेजी में लिखी ब्रह्मचर्य-विषयक पुस्तक को पढ़ा, और बार-बार पढ़ा। इसे पढ़ कर मेरी आँखें खुलीं। हाय ! मैं कितना अभागा था, मुझे तो अब-तक कुछ मालूम ही न था। मैंने आप की पुस्तक अपने सब छोटे भाइयों, भानजों और भतीजों को मंगा कर दी है। मैं चाहता हूँ कि यह पुस्तक हरेक हाई-स्कूल में हरेक लड़के के लिये पढ़ना लाभमी हो जाय।’ दूसरा युवक अकोला से लिखता हैः—‘मैंने ब्रह्मचर्य पर ऐसी पुस्तक अब तक नहीं पढ़ी थी। मैं ऐसी पुस्तक की ही तलाश में था। आप की पुस्तक को पढ़ने से मालूम होता है कि आप के हृदय में नव-युवकों के लिए तड़पन है। मैं एक विषय-समस्या में फँसा हुआ हूँ। आप कृपा कर मुझे इस में से निकालिये। मेरे पिता वडे धनी हैं। वे मुझे नव-दृष्टी मिठाइयाँ खिलाते और चाय पिलाते हैं—मैं इन्कार करूँ तो वे मुझे बनाते हैं। मैं जानता हूँ कि इन चीजों के खाने से मेरे स्वास्थ्य पर तुरा असर पड़ता है पर वे नहीं मानते। क्या कृपा कर आप उन्हें इस विषय में लिख कर समझाने का कष्ट उठा सकेंगे !’ एक और युवक बन्वर्ड से लिखता हैः—‘मेरा एक मित्र ५-६ वर्ष से डुरी आदतों का शिकार है। अचानक आप की पुस्तक उस के हाथ में पड़ गई। इसे पढ़ने पर वह प्रतिज्ञा करता है कि आगे से वह कभी अपने आत्मा को गिरने नहीं देगा। पीछे जो कुछ हुआ उस पर वह पछताता है। क्या आप उस के आत्मा को शान्ति देने के लिये नीचे के पते पर पंच

लिख सकेंगे ?' ऐसा ही एक युवक लाहौर से लिखता है:—  
 'मैंने आप की पुस्तक पढ़ी। इस ने मेरे जीवन में क्रान्ति मचा दी  
 है और मुझ में आश्र्य-जनक परिवर्तन ला दिया है। ओह !  
 मैं कितना चाहता हूँ कि यह पुस्तक कुछ पहले मिल गई  
 होती !'—ये तथा ऐसे ही सैकड़ों पत्र मेरे सामने पड़े हैं।  
 क्या इन के होते हुए भी मैं यह न समझूँ कि नव-युवक  
 इस सन्देश को सुनने के लिए तरस रहे हैं। नव-युवको ! इस  
 सन्देश को सुनो, यह मेरा सन्देश नहीं, अृपियों का सन्देश  
 है। इस सन्देश की गँूँज से देश का कोना-कोना गँूँजा दो।  
 प्रण कर लो कि स्वयं ब्रह्मचारी रहोगे और जिस युवक के सम्पर्क  
 में भी आश्रोगे उस के कान में इस मन्त्र को ज़खर फूँक दोगे !

इस से पहले कि मैं पाठकों से विदा लूँ, एक बात लिख देना  
 आवश्यक समझता हूँ। ब्रह्मचर्य की चर्चा जितनी पञ्चाव तथा  
 युक्त-प्रान्त में है इतनी शायद अन्यथा कहीं नहीं, परन्तु मुझे  
 दुःख है कि इन्हीं प्रान्तों के लोगों में ब्रह्मचर्य के विषय में  
 ऐसे भ्रम-पूर्ण विचार फैले हुए हैं जिन का निराकरण करना  
 ब्रह्मचर्य की महिमा के गीत गाने की झपेक्का भी अधिक  
 आवश्यक प्रतीत होता है। सर्व-साधारण में यह विचार घर  
 कर चुका है, और दिनोंदिन करता चला जा रहा है, कि  
 ब्रह्मचारी और पहलवान का एक ही अर्थ है। वे कहते हैं,  
 ब्रह्मचर्य सब रोगों की एक महौषध है। किसी को जुकाम हुआ  
 नहीं कि भट उन्होंने बैचारे रोगी के आचार पर सन्देह किया नहीं !

जैसा पहले भी लिखा जा चुका है, ऐसे लोगों के कारण ही 'ब्रह्मचर्य' वदनाम हो चुका तथा हो रहा है। ब्रह्मचर्य के महान् विषय पर बोलने का अधिकार उन्हीं लोगों को है जिन्होंने इस विषय को भली-भांति समझा हुआ हो। ब्रह्मचर्य का नाम लेकर चिछोने वालों में से बहुत से ब्रह्मचर्य की महिमा को बढ़ाने के स्थान पर उसे धटाने में सहायक बन रहे हैं क्योंकि, स्मरण रहे, किसी कार्य की हानि अन्य उपायों से इतनी नहीं होती जितनी उस के स्वल्प को न समझ कर उस के साथे अन्ये प्रेम से !

इस में सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य से शारीरिक वृद्धि होती है। इस में भी सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य की शक्ति बड़ी है। परन्तु यह बात विल्कुल ग़लत है कि ब्रह्मचारी पतला नहीं हो सकता, वह पहलवान ही होना चाहिये। हाँ! ब्रह्मचर्य और दुर्बलता का साथ नहीं; दुर्बलता का कई मौक़ों पर अर्थ ही ब्रह्मचर्य का अभाव होता है, परन्तु इस से यह परिणाम निकालना कि ब्रह्मचारी पतला नहीं हो सकता, सर्वया भ्रम-भूलक है। ब्रह्मचर्य का अर्थ शक्ति है, क्रिया-शीलता है, तत्परता है, उत्साह है, ओजस्विता है, सहन-शीलता है। इस का अर्थ मोटापन नहीं, पहलवानी नहीं, शरीर में मांस या वज़न का बढ़ जाना नहीं। वे लोग बड़ी भूल करते हैं जो किसी व्यक्ति को कार्य-शील तथा स्वस्थ देख कर भी केवल उस के पतले होने के कारण अपने दिमाग़ में तरह-तरह की कल्पनाएँ करने लगते हैं। वे ब्रह्मचर्य का नाम लेते हैं, परन्तु उस के रहस्य को नहीं समझते।

मोटे आदमियों की संख्या दुनियाँ में कम नहीं। वैठे रहने से मुटापे को छोड़ कर और क्या आयगा? परन्तु इस से मोटे आदमी को आर्द्ध ब्रह्मचारी समझ लेना और शरीर से पतले दिखने वाले व्यक्ति को व्यभिचारी समझना ब्रह्मचर्य के तत्व को ही न समझना है। अथर्ववेद के ११ वें काण्ड का ५ वाँ सूक्त 'ब्रह्मचर्य-सूक्त' है। इस सूक्त में जहाँ पर भी ब्रह्मचर्य का नाम आया है वहाँ साथ में 'तप' का नाम भी मौजूद है। २६ मंत्रों के इस सूक्त में १५ वार 'तप' शब्द को दोहराया गया है। 'स आचार्यं तपसा पिपर्ति', 'ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्', 'रक्षति तपसा ब्रह्मचारी'— इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र में तप की मुहारनी जपी गई है। तप से मुटापे का वही सम्बन्ध है जो ३ का ६ से। इसलिए ब्रह्मचर्य से जो लाभ होते हैं उन के विषय में सोचते हुए सदा ध्यान रखना चाहिये कि ब्रह्मचर्य शारीरिक स्वास्थ्य देता है, सहन-शक्ति, उत्साह तथा साहस देता है; ब्रह्मचर्य से मानसिक शक्तियों का विकास होता है, आत्मा उन्नति के मार्ग पर चलने लगता है; ब्रह्मचर्य का यही द्रावा है— दूसरा कुछ नहीं।

इसके अतिरिक्त यह भी न भूलना चाहिये कि संसार में किसी भी बात के अनेक कारण हो सकते हैं। इस में सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य देने तथा जीविनी-शक्ति के सञ्चार करने वाला बड़ा भारी कारण है, शायद सब से बड़ा; परन्तु यह समझ वैठना कि यही एक कारण है, और कोई कारण है ही नहीं, बड़ी

भारी भूल है। संज्ञार में भयंकर-से-भयंकर रोग हैं, और कई तरह के रोग हैं, दृत से लग जाने वाले रोग भी हैं, ब्रह्मचारी तथा व्यभिचारी दोनों को ही ने सत्ता सकते हैं। कई रोग माता-पिता से आ सकते हैं और आजन्म-ब्रह्मचर्य भी उन्हें दूर नहीं कर सकता। कई लोग सत्र नियमों का पालन करते हुए भी दुवले-पतले होते हैं, वही श्रवणक सम्पत्ति मिल जाने पर हृषि-पुष्ट, तरोताम् थो जाते हैं। कहीं हवा ख़राब, कहीं पानी ख़राब, कहीं भोजन ख़राब, कहीं निर्धनता—भिन्न-भिन्न कारण संसार में काम करते हैं परन्तु वहुधा परिणाम एक ही पाया जाता है। इमलिये 'ब्रह्मचर्य' के गीत गाने वाले को सदा स्मरण रखना चाहिये कि वह जब 'ब्रह्मचर्य' शब्द का प्रयोग वीर्य-रक्षा के अर्थों में करता है तब वह जीनिनी-शक्ति के केवल एक कारण पर ही विचार कर रहा होता है, चाहे वह कारण कितना ही महान् क्यों न हो। यही दृष्टि वास्तविक है, सत्य है!—हाँ, इस में सन्देह नहीं कि जीवन के सम्बन्ध में जो नियम काम करते हैं, उन में सत्र से बढ़ा नियम ब्रह्मचर्य है; यही भारत के प्राचीन तपस्मियों का दावा है, और यही इस सुग में नव-जीवन का सञ्चार करने वाले आदित्य-ब्रह्मचारी ऋषि द्यानन्द का सन्देश है!



## सहायक-पुस्तक-सूची

### [ BIBLIOGRAPHY ]

इस पुस्तक के लिखने में जिन पुस्तकों से सहायता ली गई है उन में से मुख्य-मुख्य पुस्तकें निम्न-लिखित हैं;—

१. अर्थव्यवहार
२. अष्टाङ्ग हृदय—घागभट्ट प्रणीत
३. 'चाँद' का वेश्या-अद्भुत
४. दस उपनिषदें
५. मात्र प्रकाश—भाष्यमित्र छत
६. मनुस्मृति—मनु-प्रणीत
७. सत्यार्थ प्रकाश—ऋषि दयानन्द छत
८. सुश्रुत संहिता—सुश्रुताचार्य प्रणीत
९. संहकार विधि—ऋषि दयानन्द छत
10. Bain : Emotions and Will
11. Bloch, Dr. : Sexual Life of our Time
12. Burman, Donis, Dr. :  
                    The Glands Regulating Personality
13. Cocks, Orrin G. ; Sex Education Series
14. Cowan : The Science of A. New Life
15. Dayscn : Causation of Sex
16. Davis, Jackson : Answers to Ever-Recurring  
                    Questions from the People
17. Elis, Havelock : Erotic Symbolism
18. —Modesty, Sexual-Precocity and Auto-Erotism

19. Elis, Psychology of Sex
20. —Sexual Selection in Man . . .
21. Foote, Dr. : Home Cyclopedias
22. Geddes & Thomson : The Evolution of Sex
23. Grey : Anatomy
24. Gullick, Luther H. Dr. : Dynamics of Manhood
25. Hall, Winfield S. : From Youth into Manhood'
26. —Reproduction & Sexual Hygiene
27. Halliburton : Physiology
28. James, William : Principles of Psychology
29. —Varieties of Religious Experiences
30. Kellogg, Dr. : Living Temple
31. —Plain Facts
32. Kieth, Dr. :: Seven Studies for Youngmen
33. Lawson : Text-Book of Botany
34. Madras Publication : The Sexual Science
35. Moll, Albert : Sexual Life of the Child
36. Macfaden : Encyclopedia of Physical Culture.
37. —Manhood and Marriage
38. Reeder, David H. : Sex Lessons of a Physician
39. Shelling : Natural Philosophy
40. Stall, Dr. : What a Young Boy Ought to Know
41. ~~What a Young Husband Ought to Know~~
42. Stobes, Marie : Married Love

## इस पुस्तक पर कृच्छ्र सम्मतियाँ

*BOMBAY CHRONICLE*: How many youngmen have not cried in the agony of shame and self-pity, "Oh, if I coul I get this knowledge in my early days." But it is never too late to mend and to such youngmen this excellent book will give a new hope as it will be a timely warning to those who are still in innocent ignorance... It should be translated in every Indian language, for it is a book which every youngman and woman should read.

*THE VEDIC MAGZINE*: The learned author undertakes to address youngmen on a most delicate topic, viz., that of sexuality. He takes the greatest care to avoid the possibility of any immoral association arising from a perusal of this book..... The writer is an advocate of Brahmacharya the cause of which he pleads with convincing force..... Youngmen with a serious outlook on life will necessarily be benefitted by a study of Prof. Satyavrata's Confidential Talks.

*THE STUDENT*: The author has indeed rendered a very valuable service to the student community of India particularly, in writing this highly useful and interesting book. The very first chapter puts forth very lucidly the circumstances which necessitated such a task being undertaken. If seriously studied the book is sure to yield immense

good to the reader and repay more than its cost. The very fact that the book contains a foreword from the pen of no less a person than Swami Shraddhanand is a very strong recommendation in itself.

*PRATAP Lahore*: The learned author has ably thrown a flood of light in this book on the most difficult and important subject of Brahmacharya. It contains thirteen instructive chapters, each full of practical lessons on Brahmacharya. The book is immensely useful to Youngmen for whom it is intended. The speciality of the book lies in its charming and captivating style which makes it a very interesting and delightful reading.

**चौंद**—इस में सन्देह नहीं कि, ग्राचार्य श्रोतु सत्यव्रत जी ने इस पुस्तक को लिख कर बालक में मातृ-भूमि की एक महान् सेवा की है। ग्राच ने एक सर्वोपकारी विषय को शाँगेरजी-भाषा में प्रकट कर के प्रेम-रज्ञु में गुणे, अबोध दम्पति को वीर्य-रक्षा का महत्व दिखाकर—ब्रह्मचर्य की महिमा की ओर उन का व्यसनासक चिन्त आकर्षित किया है और 'एक नारी ब्रह्मचारी' की कहावत को चरितार्थ किया है। इस कार्य के लिए ग्राध्यापक महोदय धन्यवाद के पात्र हैं।..... कहने का तात्पर्य यह है कि इस पुस्तक में पांचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होने वाले प्रभावों का वर्णन करते हुए हमारे ऋविर्यों द्वारा वर्णित तत्सम्बन्धी संघर्षों का बड़ी योग्यता से प्रतिपादन किया है।..... पुस्तक श्रापने दंग की श्रान्तिः है। इस का चौथा ग्राध्याय मनन करने योग्य है। इस में वीर्य-कोष, स्क्रोटम, लोमरस, स्पर्मटोजोश्चां, शोषम, टेसटीज आदि विषय की प्रशंसनीय विवेचना की गई है। समझाने का दंग भाज्ञा है। प्रमाण की भी कमी नहीं है। शास्त्रीय मत का भी निदर्शन भ्रच्छा किया है। जिस-निस विषय के ज्ञान में पश्चिमीय ऐद्वारा पिछड़े हुए हैं, उन का भी संकेत कर दिया है....।





---

---

*Printed By Ch. Hulas Rai*  
GURUKULA UNIVERSITY PRESS, KANGRI.

---

